[भाग ४]
हनुमानप्रसादपोद्दार

'जो ईश्वरकी दृष्टिमें उत्तम है वही उत्तम है; क्योंकि उन्हीं-की दृष्टि निर्दोष एवं सत्य है।'

—इसी पुस्तकसे

[भाग ४]
लेखक
हनुमानप्रसादपोद्दार

मुद्रक तथा प्रकाशक
घनश्यामदास जालान
गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० २०१० प्रथम संस्करण १०,०००

मूल्य ॥।-) तेरह आना, सजिल्द १≡) एक रुपया तीन आना

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

श्रीहरिः

नम्र निवेदन

लगभग ढाई मास पूर्व भगवच्चर्चाका तीसरा भाग प्रेमी पाठकोंकी सेवामें प्रस्तुत किया था। यह चौथा भाग भगवत्प्रेमी जनताकी मनस्तुष्टिके लिये प्रस्तुत किया जा रहा है। भगवत्प्रेमियोंको भगवान्‌की चर्चामें—उनके पावन गुणोंके परस्पर कथन और श्रवणमें जितना सुख मिलता है, उतना किसी अन्य विषयमें नहीं मिलता। उनकी तुष्टि एवं मनोरञ्जनका वही सबसे प्रिय विषय होता है। अतः हमें आशा है कि प्रस्तुत भाग भी भगवत्प्रेमी पाठकोंको पिछले भागोंके समान ही रुचिकर एवं उपादेय सिद्ध होगा। इसमें पिछले भागोंकी अपेक्षा भी अधिक महत्त्वपूर्ण, गूढ एवं शिक्षाप्रद विषयोंका समावेश हुआ है। इसमें संत-महिमा, निर्भरा भक्ति, वर्णाश्रमधर्म, मौन व्याख्यान, भगवदनुराग आदि बोधप्रद विषयोंके साथ-साथ वर्णाश्रमधर्म और ब्राह्मण, पाप विषयासक्तिसे होते हैं—प्रारब्धसे नहीं, श्रीरामका स्वरूप और उनकी प्रसन्नताका साधन, चोर-जार-शिखामणि एवं श्रीराधाजी कौन थीं—आदि कुछ ऐसे विषयोंपर भी प्रकाश डाला गया है, जिनके सम्बन्धमें जिज्ञासुओंको कई प्रकारकी शङ्काएँ हुआ करती हैं। साथ ही—साधनोपयोगी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषयोंका प्रतिपादन और रामायणके मुख्य-मुख्य पात्रोंकी चरित्र-समीक्षा तथा रामायण-विषयक कतिपय अन्य उपयोगी विषयोंका दिग्दर्शन कराया गया है। इस प्रकार सभी दृष्टियोंसे यह संग्रह भगवत्प्रेमियों एवं भगवत्तत्त्वजिज्ञासुओंके बड़े ही कामकी वस्तु बन गया है। आशा है, इस अनुपम चयनसे परमार्थ-पथके पथिक भाई-बहिन पूरा लाभ उठाकर अपने जीवनको भगवद्-भिमुखी एवं धन्य बनानेकी चेष्टा करेंगे।

अक्षयतृतीया, २०१० वि०　　　　विनीत—चिम्मनलाल गोस्वामी

श्रीहरिः

विषय-सूची

ब्रजराज

श्रीपरमात्मने नमः

भगवच्चर्चा

[भाग ४]

संत-महिमा

प्रियप्राया वृत्तिर्विनयमधुरो वाचि नियमः
प्रकृत्या कल्याणी मतिरनवगीतः परिचयः ।
पुरो वा पश्चाद् वा तदिदमविपर्यासितरसं
रहस्यं साधूनामनुपधि विशुद्धं विजयते ॥

(भवभूति)

भगवान्‌के भक्त, भगवान्‌के प्यारे, भगवान्‌के तत्त्वको यथार्थतः जाननेवाले और भगवान्‌के ही स्वरूपभूत प्रातःस्मरणीय पूज्यचरण संत-महात्माओंकी महिमा कौन गा सकता है। उनके अनन्त कल्याणगुणों-का बखान कौन कर सकता है। परंतु उनकी स्मृति अन्तःकरणको पवित्र करती है, उनके आदर्श चरित्रोंका मनन हृदयको विशुद्ध भगवद्भावसे भर देता है और उनका गुणगान जिह्वाको पवित्र करके उसमें भगवद्गुणगानकी योग्यता प्रदान करता है—इन्हीं परम लाभोंकी ओर दृष्टि जानेसे संतोंकी कुछ चर्चा करनेका साहस हुआ है। संतजन ऐसी कृपा करें, जिसके प्रभावसे इन पंक्तियोंके लेखकका चित्त उनके प्रियतम श्रीभगवान्‌के चरणोंमें कुछ अनुराग करना सीखे?

संत कौन हैं ?

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्ने अपने प्रिय भक्तोंके निम्नलिखित चालीस लक्षण बतलाये हैं। ये लक्षण जिन पुरुषोंमें हों, वे ही संत हैं; इन्हींका कुछ न्यूनाधिकरूपसे 'गुणातीत' और 'स्थितप्रज्ञ' आदि नामोंसे गीतामें वर्णन है।

१—किसी भी जीवसे द्वेष न होना।

२—सबके साथ मैत्रीभाव रखना।

३—बिना किसी भेदभावके दुखी जीवोंपर दया करना।

४—भगवान्के सिवा किसी वस्तुमें 'मेरापन' न रहना।

५—शरीर-मन-वाणीमें कहीं 'मैंपन' न होना।

६—सुख-दुःखमें समबुद्धि रहना।

७—अपना बुरा करनेवालेके प्रति, उसे दण्ड देनेकी सामर्थ्य होनेपर भी, चित्तमें क्रोध न करना और भगवान्से उसका भला चाहना।

८—अनुकूल और प्रतिकूल वस्तु या स्थितिकी प्राप्तिमें संतुष्ट रहना।

९—चित्तका निरन्तर परमात्माके साथ योगयुक्त रहना।

१०—मन-इन्द्रियोंको जीत लेना।

११—परमात्मामें दृढ़ निश्चय होना।

१२—मन और बुद्धिको सर्वभावसे भगवान्के अर्पण कर देना।

१३—अपने किसी भी आचरणसे किसी भी जीवको उद्विग्न न करना।

१४–किसीके द्वारा कैसा भी व्यवहार होनेपर कभी उद्विग्न न होना।

१५–सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्तिमें हर्ष न मानना।

१६–दूसरेकी उन्नतिमें डाह न होना।

१७–परमात्माको नित्य अपने साथ समझकर सदा निर्भय रहना।

१८–किसी भी अवस्थामें अशान्त न होना।

१९–किसी भी वस्तुकी अपेक्षा न होना।

२०–मन-वाणी-शरीरसे पवित्र रहना।

२१–अहितके त्याग और हितके ग्रहणमें चतुर होना।

२२–सबसे उदासीन—निरपेक्ष रहना।

२३–मानसिक व्यथाका सर्वथा अभाव।

२४–आसक्ति और कर्त्तापनके अभिमानसे कोई भी आरम्भ न करना। सब कर्मोंका आरम्भ परमात्माकी लीलासे होता है, ऐसा मानना।

२५–अनुकूलकी प्राप्ति और प्रतिकूलके विनाशमें हर्ष न होना।

२६–प्रतिकूलकी प्राप्ति और अनुकूलके विनाशमें द्वेष न होना।

२७–किसी भी स्थितिमें शोक न होना।

२८–किसी भी वस्तुकी कामना न होना।

२९–शुभ और अशुभ कर्मोंका फल-त्याग कर देना।

३०–शत्रु-मित्रमें समभाव रखना।

३१–मानापमानमें समानभाव रखना।

३२–सरदी-गरमीमें समबुद्धि रहना।

३३–सुख-दुःखको समान समझना।

३४–किसी भी पदार्थमें आसक्ति न रहना।

३५–निन्दा-स्तुतिको समान मानना।

३६–वाणीसे सत्-चर्चाके सिवा और कोई बात न करना, मनसे सदा भगवान्‌के स्वरूपका मनन करते रहना।

३७–शरीरनिर्वाहके लिये जो कुछ भी मिल जाय, उसीमें संतुष्ट रहना।

३८–घर-द्वारको अपना न मानना।

३९–सदा परमात्मामें स्थिरबुद्धि रहना।

४०–श्रद्धापूर्वक और मेरे परायण होकर भागवत-धर्मरूपी अमृतका सदा सेवन करना।

ये सब गुण सिद्ध संतमें स्वाभाविक होते हैं और साधक इनको प्राप्त करनेके प्रयत्नमें लगा रहता है; परंतु यह नहीं समझना चाहिये कि संतमें इतने ही परिमितसंख्यक गुण हैं। सत्यस्वरूप परमात्मामें नित्य स्थित होनेके कारण संतकी अंदर-बाहरकी प्रत्येक चेष्टा और क्रिया एक-एक सद्गुण और सदाचार ही है; वस्तुतः संत सद्गुणोंके भंडार होते हैं, उपर्युक्त चालीस गुण तो उन अनन्त सद्गुणोंके साररूप बतलाये गये हैं। और भी संक्षेपमें कहें तो यों कह सकते हैं, जिनमें निम्नलिखित छः लक्षण हों, वे पुरुष निश्चय ही संत हैं— १–नित्य सत्य परमात्मस्वरूपमें या भगवत्प्रेममें अचल स्थिति, २–सर्वत्र समदृष्टि, जीवमात्रमें आत्मोपम प्रेम, ३–राग-द्वेष, काम-क्रोध और लोभ-अभिमानादि मानसिक दोषोंका और मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाकी इच्छाका

सर्वथा अभाव, ४—स्वाभाविक ही समस्त प्राणियोंके हितमें रति, ५—शान्ति, सरलता, शम, दम, शीतलता, त्याग, संतोष, दया, अहिंसा, सत्य, निर्भयता, अनासक्ति, निष्कामता, निरहंकारता, निर्ममता, स्वाधीनता, निर्मलता, क्षमा, सेवा, तप आदि सद्गुण और सदाचारोंका पूर्ण विकास और ६—हर एक स्थितिमें अखण्ड असीम आनन्द !

संतोंके हृदयमें पाप-तापके लिये स्थान नहीं है, उनके आचरणोंमें किसी प्रकारका भी दोष नहीं आ सकता। अज्ञान, असत्य, दम्भ, कपट, स्तेय, व्यभिचार आदि दुराचार उनके समीप भी नहीं रह पाते। उनका सरल जीवन सर्वथा सदाचारमय, दिव्य आदर्श गुणोंसे युक्त, सबको सुख पहुँचानेवाला तथा सबका हित करनेवाला होता है; वे जहाँ रहते हैं, जहाँ विचरते हैं, वहीं मङ्गल-संदेश देते हैं, मङ्गलमय वायुमण्डल तैयार करते हैं और सबको मङ्गलमय बना देते हैं।

संतोंकी पहचान

यद्यपि संतके लिये शास्त्रोंमें इस प्रकारके अनेकों लक्षणोंका निर्देश मिलता है, तथापि वस्तुतः संत समस्त लक्षणोंसे ऊपर उठे हुए होते हैं। किसी भी लक्षणके द्वारा कोई भी विषयी पुरुष संतको कभी नहीं पहचान सकता। प्रथम तो जिसने जिस वस्तुकी उपलब्धि ही नहीं की, वह केवल उसका नाम सुनकर ही कैसे उसके असली-नकली होनेका निर्णय कर सकता है। जिसने हीरा देखा ही नहीं, वह हीरे और काँचके अन्तरको कैसे समझ सकता है। संतोंके लक्षणोंमें कई तो ऐसे हैं, जो स्वसंवेद्य हैं; और कई ऐसे हैं जिनके

स्वरूपका यथार्थ निर्णय स्वयं उनका आचरण करनेवाले केवल अनुभवी पुरुष ही कर सकते हैं, विषयी पुरुष अपनी विविध दोषमयी, विषयासक्तिसे भ्रमित और मोहसे आवृत मलिन बुद्धिके तराजूपर उनको नहीं तौल सकता। वह जिस बातको अपनी विपरीत और अज्ञानभरी दृष्टिसे दोष समझेगा, सम्भव है, वही संतका आदर्श गुण हो। ऑपरेशन करते हुए डाक्टरकी क्रियामें, बच्चों और शिष्योंको वत्सलतापूर्ण हृदयसे धमकाते हुए माता-पिता और सद्गुरुकी शिक्षामें, और कराहते हुए रोगीको कुपथ्य न देनेमें अज्ञ पुरुष निर्दयताका आरोप कर सकते हैं; परंतु क्या यह वास्तविक दया नहीं है? इसी प्रकार अन्यान्य गुणोंकी बातें हैं। मूर्ख मनुष्य यदि अनाज तौलनेके एक बड़े काँटेके एक पलड़ेपर बहुमूल्य हीरा रखकर और उसे सेर-दो-सेरके वजनका भी न पाकर उसको किसी भी कामका न समझे तो इससे जैसे हीरेकी कीमत कुछ भी कम नहीं हो जाती, इसी प्रकार असंतकी मलिन बुद्धि न तो संतको पहचान सकती है और न उसके किसी निर्णयसे संतका यथार्थ स्वरूपनिर्देश ही होता है। दूसरी बात एक यह भी है कि भोले-भाले नर-नारियोंको ठगनेके लिये दम्भी मनुष्य भी संतोंका-सा स्वाँग रचकर लोगोंको धोखा दे सकता है, बाहरी आचरणकी नकल करना कोई बड़ी बात नहीं। यद्यपि सत्य, चेतन और ज्ञानस्वरूप परमात्मामें नित्य-स्थित लोक-हित-निरत संतके बाहरी आचरणोंके और दम्भीके संतों-जैसे बनावटी आचरणोंमें बहुत बड़ा भेद रहता है, तथापि उस भेदको पहचानना हर एक मनुष्यका कार्य नहीं है। योगसिद्धिप्राप्त या भगवत्प्रेरित संत पुरुष ही उस महत्त्वपूर्ण भेदको जानते हैं। अतएव

किसी भी बाहरी लक्षणसे संत-असंतका निर्णय करना असम्भव नहीं तो कम-से-कम महान् कठिन तो अवश्य ही है। विषयी पुरुषोंके लिये तो असम्भव ही है।

संतोंका यथार्थ परिचय संतकृपासे ही मिल सकता है। किंतु पहलेसे ही किसी-न-किसी दोषको खोज निकालनेकी बुरी इच्छासे—जिनपर दोषारोपण हो सके, ऐसे छिद्रोंको ढूँढ़नेकी नीयतसे ही जो संतके पास जाता है या संतका सेवन करता है, उसको संतका यथार्थ परिचय मिलना और संतकृपाको प्राप्त करना बहुत ही कठिन है। श्रद्धा, सेवा और जिज्ञासासे ही मनुष्यको संतकृपाकी प्राप्ति हो सकती है। इतना होनेपर भी अकारणकृपालु संतोंका अज्ञात सङ्ग भी कभी व्यर्थ नहीं जाता; उस अज्ञात सत्सङ्गसे, जिस महान् कल्याण-कल्पतरुका भगवत्-प्रेमरूपी अमल फल है, उसका अक्षय बीज तो हृदयक्षेत्रमें पड़ ही जाता है, जो अनुकूल वातावरण पाकर उगता है और फूलता-फलता है।

संत भगवान्‌के किस गुप्त संकेतको पाकर कब किस प्रकारका आचरण करते हैं, इस बातको साधारण लोग नहीं समझ सकते; लोकोत्तर पुरुषोंके कार्य भी लोकोत्तर ही हुआ करते हैं, साधारण बुद्धिसे उनका समझना और अनुकरण करना सम्भव नहीं होता। इसीलिये श्रुतिवाक्योंमें गुरु शिष्यसे कहते हैं—

यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि।
यान्यस्माकꣳसुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि॥

(तैत्तिरीयोपनिषद् १। ११। २-३)

'शास्त्रोक्त निर्दोष कर्मोंका ही आचरण करना चाहिये, शास्त्रविरुद्धका नहीं। हमलोगोंमें भी जो सुन्दर आचरण हैं, तुम्हें उन्हींका अनुकरण करना चाहिये, अन्य निन्दित आचरणोंका नहीं।'

वस्तुतः संतोंका एक भी आचरण किञ्चित् भी दोषयुक्त नहीं होता, वह स्वाभाविक ही सत्य ज्ञानसे ओतप्रोत और लोकहितके उद्देश्यसे आचरित होता है, हम उसे अपनी अदूरगामिनी विपरीत दृष्टिके कारण ही दूषित या निन्दित मान लेते हैं। एक महात्माने मुझको एक कहानी सुनायी थी—

संतकी आश्चर्य-कहानी

किसी एक नगरमें राजकन्याका विवाह था, मङ्गलके बाजे बज रहे थे। उसी नगरमें एक सिद्ध महात्मा रहते थे। महात्मा बाजोंकी आवाज सुनकर राजदरबारमें गये। राजासे यह मालूम होनेपर कि राजकन्याका विवाह है, उन्होंने कन्याको देखना चाहा। राजाने कन्याको बुलाया। राजकन्याने आकर महात्माके चरणोंमें प्रणाम किया। महात्माने न मालूम किस अभिप्रायसे उसको नखशिख देखकर राजासे कहा—'इस लड़कीका हमसे विवाह कर दो।' राजा सो सुनते ही सहम गया; बुद्धिमान् था, महलमें जाकर एक जोड़ी बहुमूल्य मोती लाया। मोतीका आकार मुर्गीके अंडे-जितना था, और उनसे शारदीय पूर्णिमाके चन्द्रमाकी-सी ज्योति छिटक रही थी। राजाने नम्रतासे कहा—'भगवन्! हमारे कुलकी रीति है—जो इस तरहके १०८ मोतियोंका हार कन्याको देता है, उसीसे हम कन्याका विवाह करते हैं।' महात्माने निर्विकार चित्तसे, पर उत्साहसे

कहा—'हाँ, हाँ, तुम्हारी कुलकी प्रथा तो पूरी होनी ही चाहिये। ये दोनों मोतीके दाने मुझे दे दो, इसी नमूनेके एक सौ आठ मोती मैं ला देता हूँ। परंतु खबरदार! तबतक लड़कीको किसी दूसरेसे ब्याह न देना।' राजाने सोचा था, महात्मा मोतीकी बात सुनकर निराश हो लौट जायँगे; परंतु यहाँ तो दूसरी ही बात हो गयी। राजा जानता था—महात्मा ऊँचे दर्जेके सिद्ध पुरुष हैं, उनकी आज्ञा न माननेसे अमङ्गल हो सकता है; अतएव राजाने दोनों मोती उनको दे दिये और कहा—'भगवन्! आगे लग्न नहीं है, आप जल्दी लौटियेगा।' राजाने सोचा, 'ऐसे मोती कहीं मिलेंगे नहीं; महात्मा सच्चे पुरुष हैं, लौट ही आयेंगे। तब लड़कीका विवाह निर्दिष्ट राजकुमारके साथ कर दिया जायगा।' राजाने विवाह स्थगित कर दिया। महात्मा मोतीके दाने झोलीमें डालकर चल दिये।

तीन दिन हो गये। महात्मा समुद्रके किनारे बैठे कमण्डलु भर-भर समुद्रका जल बाहर उलीच रहे हैं। उन्हें खाना-पीना-सोना कुछ भी स्मरण नहीं है। न थकावट है न विषाद है; न निराशा है न विराम है। एक लगनसे कार्य चल रहा है। महात्माकी अमोघ क्रियासे प्रकृतिमें हलचल मची। अन्तर्जगत्में क्षोभ उत्पन्न हो गया। समुद्रदेव ब्राह्मणका रूप धरकर बाहर आये। पूछा, 'भगवन्! यह क्या कर रहे हैं?' समाधिसे जगे हुएकी भाँति उनकी ओर देखकर सहज सरलतासे महात्मा बोले—'एक सौ आठ मोतीके दाने चाहिये। समुद्रमें पानी नहीं रहेगा, तब मोती मिल जायँगे।' ब्राह्मणने कहा—'समुद्र क्या इसी तरहसे और इतना जल्दी बिना पानीका हो जायगा?'

'हाँ, हाँ, हो क्यों नहीं जायगा। पानी तो उलीच ही रहे हैं, दो दिन आगे-पीछे होगा। अपनेको कौन-सी जल्दी पड़ी है।'

'अगर समुद्र आपको मोती दे दे तो ?'

'तो फिर क्या हमारा समुद्रसे कोई वैर है जो हम उसे बिना पानीका बनायेंगे ?'

'अच्छा, तो लीजिये ।'

समुद्रकी एक तरङ्ग आयी और मोतियोंका ढेर लग गया। महात्माने झोलीसे दोनों मोती निकाले। उनसे ठीक मिला-मिलाकर १०८ मोती चुनकर झोलीमें डाल लिये और चलनेके लिये उठ खड़े हुए। ब्राह्मणवेशधारी समुद्रने कहा, 'भगवन्! कुछ मोती और ले जाइये न ?' महात्मा बोले—'हमें संग्रह थोड़े ही करने हैं। जरूरत थी, उतने ले लिये। अब हम व्यर्थ बोझ क्यों ढोयें।'

महात्माने आकर राजाको बुलाया और पहलेके दो दानेसमेत ११० मुर्गीके अंडे-जैसे पूनमके चाँद-से चमकते मोतीके दाने राजाके सामने रख दिये। राजा आश्चर्यचकित हो गया। महात्माके परम सिद्ध होनेका उसे पूर्ण विश्वास हो गया। उसने सोचा 'ऐसे विलक्षण शक्तिशाली पुरुषसे लड़कीका विवाह करनेमें लड़कीको तो किसी दुःखकी सम्भावना है नहीं। परंतु इनसे कुछ काम और क्यों न ले लिया जाय।' राजाकी एक दूसरे बड़े राजासे शत्रुता थी; वह राजा तो मर गया था, उसका छोटा कुमार था। इसने सोचा 'शत्रुका बीज भी अच्छा नहीं; महात्माके हाथों यह कण्टक दूर हो जाय तो अच्छा।' यह सोचकर राजाने कहा—'भगवन्! मोती तो बड़े अच्छे आप ले आये। एक काम और है, अमुक राज्यके राजकुमारका सिर आनेपर लड़कीका ब्याह होगा, ऐसा प्रण है। अतएव यदि हो सके

तो आप इसके लिये चेष्टा करें।' महात्माने कहा—'अरे, इसमें कौन बड़ी बात है, अभी जाता हूँ।' महात्माजी उस राज्यमें गये। राजमातासे मिले। राजमाताने महात्माका नाम सुन रक्खा था, इससे उसने बड़ी अच्छी आवभगत की। इन्होंने कहा—'माई! हम तो एक कामसे आये हैं, तुम्हारे कुमारका हमें सिर चाहिये। हमने एक राजासे कहा था—अपनी कन्याका ब्याह हमसे कर दो; उसने कहा है कि असुक राजकुमारका सिर ला देंगे, तब विवाह होगा। अतः तुम हमें अपने लड़केका सिर दे दो।' एकलौता लड़का था और वही राज्यका अधिकारी था। महात्माके वचन सुनकर राजमाताके प्राण सूख गये। परंतु हृदयमें श्रद्धा थी; उसको विश्वास था कि सच्चे महात्मासे किसीका कोई अकल्याण नहीं हो सकता। उसने कहा—'भगवन्! लड़केका सिर मैं कैसे उतारूँ। आप इस लड़केको ही ले जाइये।' महात्मा बोले—'यह और अच्छी बात है; उसने तो सिर ही माँगा था, हम तो पूरा ले जाते हैं। फिर सिर उतारकर हमें क्या करना है।'

'भगवन्! इसे मैं आपके हाथोंमें सौंप रही हूँ।'

'हाँ, हाँ, भगवान् सब मङ्गल करेंगे।'

राजकुमारको लेकर महात्मा अपनी नगरीमें लौटे और राजमहलमें जाकर बोले—'लो, यह समूचा राजकुमार! अब पहले विवाह करो; खबरदार! जबतक विवाह न हो, लड़केको छूना मत।' राजाने आनन्दमग्न होकर कहा—'ठीक है, भगवन्! ऐसा ही होगा।' महात्माने कहा—'तो बस, अब देर न करो!'

विवाहमण्डप रचा हुआ था ही। चौकी बिछायी गयी। महात्माजी दूल्हा बने। कन्या आयी। कन्याको महात्माने एक बार फिर नखशिख देखा। अकस्मात् बोल उठे—'अरे! उस राजकुमारको तो यहाँ बुलाओ!' राजकुमार बुलाया गया। महात्माने उसे कन्याके बगलमें खड़ा कर दिया। फिर दोनोंको एक बार नखशिख देखकर बोले—'भई! जोड़ी तो यही सुन्दर है। राजा! बस, अभी इस राजकुमारसे राजकुमारीका ब्याह कर दो। खबरदार, जो जरा भी चीं-चपट की।' राजा नाहीं न कर सका। राजकुमारीका विवाह शत्रु राजकुमारसे हो गया। महात्माके विचित्र आचरणका रहस्य अब राजाकी समझमें आया, राजाका मन पलट गया। शत्रु मित्र हो गया। महात्मा अपनी कुटियापर जाकर पूर्ववत् धूनी तपने लगे।

इस कहानीसे यह मालूम हो गया होगा कि संत पुरुषकी क्रियाएँ किसी अज्ञात उद्देश्यसे बड़ी विलक्षण हुआ करती हैं, उनकी क्रियाओंसे उनकी स्थितिका पता लगाना बहुत ही कठिन होता है। तथापि आजकलके जमानेमें—जहाँ लोग नाना प्रकारसे ठगे जा रहे हैं—विशेष सावधानी रखना ही उत्तम है। श्रद्धा और सेवा करके सत्सङ्ग करना चाहिये और जिन संत पुरुषके सङ्गसे अपनेमें दैवी सम्पदाकी वृद्धि, भगवान्‌की ओर चित्तवृत्तियोंका प्रवाह, शान्ति और आनन्दकी वृद्धि प्रतीत हो, उन्हींको संत मानकर उनसे विशेष लाभ उठाना चाहिये। अपनी बुद्धि जिनको संत स्वीकार न करे, उनकी निन्दा तो नहीं करनी चाहिये; परंतु अपने उनसे कोई गुरु-शिष्यका सम्बन्ध नहीं रखना चाहिये। निन्दा तो इसलिये नहीं कि प्रथम तो किसीकी भी निन्दा करना ही बहुत बुरा है; दूसरे, हम संतका

बाहरी आचरणसे निर्णय भी नहीं कर सकते। और गुरु-शिष्यका सम्बन्ध इसलिये नहीं कि श्रद्धारहित और दोषबुद्धियुक्त ऐसे सम्बन्धसे कोई लाभ नहीं होता।

संत और चमत्कार

अहिंसा-सत्यादि यम-नियमोंकी पूर्ण प्रतिष्ठाके साथ ही परमात्माके स्वरूपमें सम्पूर्णतया स्थिति होनेके कारण संतोंके जीवनमें अलौकिक योगविभूतियोंका प्रकट होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। भगवान् स्वयं शुद्ध सत्त्वमयी और कल्याणमयी नित्य अनन्त दिव्य विभूतियोंसे सम्पन्न हैं। उनका 'ऐश्वर-योग' प्रसिद्ध है। और ऐसी सिद्धियाँ हेय भी नहीं हैं। संसारके प्राचीन और अर्वाचीन सभी धर्मोंके संत पुरुषोंके जीवनमें योगविभूतियोंका होना न्यूनाधिक रूपमें पाया जाता है। अवश्य ही सत्यके साथ-साथ संसारमें मिथ्या, दम्भ, धूर्तता भी रहती ही है और पाखंडीलोग अपने स्वार्थसाधनके लिये नकली सिद्धियाँ दिखलाकर अथवा लोगोंकी आँखोंमें धूल झोंककर अपना निकृष्ट व्यवसाय भी चलाते ही हैं। पर इससे योगविभूतियोंको दूषित नहीं कहा जा सकता। तथापि इतना अवश्य कहा जा सकता है कि अणिमादि सिद्धियाँ और ऐसी ही अन्यान्य योगविभूतियोंका प्राप्त करना संतजीवनका उद्देश्य कदापि नहीं है। संतकी महाविभूति तो भगवान्‌के साथ पूर्णतया एकात्मभाव है। इसीके लिये साधकदशामें संत अपने जीवनको महान् त्याग, वैराग्य और प्रचण्ड तपस्याकी आगमें तपाता रहता है, और इस परम सत्यको उपलब्ध करनेके बाद इसीमें रमकर तदाकार हो जाता है। सिद्धियाँ आनुषङ्गिक रूपमें आती हैं तो वह न तो इनको कोई महत्त्व देता है, न इनकी प्राप्तिकी इच्छा करता

है, न इनका प्रदर्शन करके देहपिण्डकी और मिथ्या नामकी पूजा ही करवाना चाहता है; क्योंकि वह जानता है सिद्धियोंमें संतभाव नहीं है, बल्कि सिद्धियाँ तो साधनमें महान् विघ्नरूप हैं और परमार्थपथसे गिरा देती हैं और ये सिद्धियाँ राक्षसोंमें भी हो सकती हैं।

जो लोग सिद्धियोंका प्रदर्शन करके नाम-रूपकी पूजा कराना चाहते हैं, वे तो संत हैं ही नहीं। बल्कि आजकल तो बहुत लोग ऐसे भी मिल सकते हैं, जिनको यथार्थ योगविभूतियाँ भी प्राप्त नहीं हैं, जो केवल धोखा देनेकी कलामात्र जानते हैं, और उसीके सहारे भोले लोगोंको ठगते हैं। संतका महान् चमत्कार तो उसका नित्य सत्य अखण्ड ईश्वरमय जीवन है, जिस जीवनके दर्शन, कथन, श्रवण और परिचय—सभी आश्चर्यमय हैं।

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥

संतोंके स्वभावमें विभिन्नता

सिद्ध संतोंकी स्वरूपस्थिति एक-सी होनेपर भी व्यावहारिक जगत्‌में उनके स्वभावमें बहुत ही विभिन्नता रहती है। जो संत जिस देशमें, जिस परिस्थितिमें, जिस शिक्षा-दीक्षामें, जिस वातावरणमें प्रकट हुए हैं और पले हैं, प्रायः उसीके अनुसार उनका स्वभाव भी होता है। कोई अत्यन्त एकान्त-सेवी, निवृत्तिपरक होकर लोकालयसे सर्वथा अपनेको अलग रखना चाहते हैं, कोई दिन-रात विभिन्न प्रकारके लोगोंमें रहकर उनकी सहायता करते, उन्हें मार्ग बतलाते, अन्याय-अत्याचारका सामना करते और सत्य धर्मकी प्रतिष्ठा करनेमें

लगे रहते हैं। एकान्तवासी संत भी कम लोक-सेवा नहीं करते। एकान्त स्थानमें उनका दिन-रात भगवान्‌के साथ आत्मासे ही नहीं,—शरीर-मन-वाणीसे भी संयोग रहना जगत्‌के लिये बहुत ही कल्याणकारी होता है। उनका अस्तित्व ही जगत्‌के लिये बहुत बड़ा आश्वासन और महान् लाभ है। लोकालयमें रहनेवाले संतोंमें गृहस्थ, संन्यासी दोनों ही होते हैं, और गृहस्थोंमें भी स्वभाव तथा रुचिभेदके अनुसार कोई त्यागमार्गी और कोई अत्यागमार्गी होते हैं—कोई विषयोंके स्वरूपतः त्यागकी शिक्षा देते हैं तो कोई राग-द्वेष-त्यागपूर्वक वशमें किये हुए मन-इन्द्रियोंसे भगवत्प्रीत्यर्थ विषय-सेवनकी सम्मति देते हैं और तदनुसार ही दोनोंकी अपनी रहनी-करनीमें भी अन्तर होता है। ऐसे संत सभी देशों, सभी जातियों, सभी धर्मों और सभी सम्प्रदायोंमें प्रायः सभी युगोंमें होते आये हैं।

संत-जगत्‌में उपर्युक्त निवृत्ति और प्रवृत्तिपरक संतोंके सिवा कुछ ऐसे संत भी होते हैं, जिनके बाह्य आचरण बाल, जड, उन्मत्त या पिशाचवत् होते हैं। इन्हीं लोगोंको अवधूत आदि नामोंसे कहा जाता है। ऐसे लोग प्रायः शिक्षा नहीं देते, अपनी मौजमें रहकर ही जगत्‌की अनुपम सेवा करते रहते हैं। इनमेंसे कई देखनेमें बहुत ही घृणित आचरणवाले होनेपर भी अपनी सन्निधिमात्रसे लोगोंका अपार कल्याण कर देनेकी शक्ति रखते हैं। अवश्य ही बहुत-से पाखण्डी लोग भी बाहरसे इन लोगों-जैसा वेष बनाकर जगत्‌को ठगा करते हैं, परंतु इससे उन विधि-निषेधके परे पहुँचे हुए महात्माओंके निर्मल साधुचरित्रपर कोई कलङ्क नहीं आ सकता। जो लोग धन, स्त्री और पूजा-प्रतिष्ठाके लिये इन लोकोत्तर पुरुषोंकी नकल करके, अपने

वर्णाश्रमविहित संध्या-पूजन, माता-पिताका सेवन, परिवार-पालन, यज्ञ-दान, देश और धर्मकी सेवा, खान-पानकी शुद्धि एवं शास्त्रीय आचार-विचार आदिको छोड़कर म्लेच्छवत् मनमाना आचरण करते हैं, वे तो नरकगामी ही होते हैं।

अवश्य ही विधि-निषेधके ऊपर ऐसे उच्च स्तरमें पहुँच जानेपर परमात्माके सत्यस्वरूपमें इतनी प्रगाढ़ तल्लीनता हो जाती है कि समस्त नियमोंके बन्धन अपने-आप टूट जाते हैं; वहाँका नियम ही स्वाभाविक स्वच्छन्दता है। परंतु उस स्थितिके पहले जान-बूझकर शास्त्र और सदाचारके आवश्यक बन्धनोंको तोड़नेवालेकी तो वही दशा होती है, जो नदीके उस पार भूमिपर उतरे हुए पथिककी देखा-देखी नदीकी बीच धारामें नौकाको छोड़ देनेवालेकी होती है। संतशिरोमणि प्रेममयी गोपियोंके सम्बन्धमें उद्धवजी कहते हैं—

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥

(श्रीमद्भा० १० । ४७ । ६१)

'अहो! इन गोपियोंकी चरणरजको सेवन करनेवाली वृन्दावनमें उत्पन्न हुई गुल्म, लता और ओषधियोंमेंसे मैं कुछ भी हो जाऊँ (जिससे इन महाभागाओंकी चरणरज मुझे भी प्राप्त हो)। क्योंकि इन गोपियोंने बहुत ही कठिनतासे त्याग किये जानेवाले स्वजनोंको और आर्यपथको त्यागकर भगवान् मुकुन्दके मार्गको पाया है, जिनको श्रुतियाँ अनादिकालसे खोज रही हैं (परंतु पातीं नहीं)।'

यह 'आर्यपथत्याग' उन कृष्णमयी गोपिकाओंके द्वारा ही हो सकता है, जो घर-संसारकी दुस्त्यज ममताको सर्वथा छोड़कर, समस्त मोहके परदोंको फाड़कर अनन्यरूपसे सर्वथा-सर्वदा और सर्वत्र मुरलीमनोहर श्रीकृष्णमें ही रमण करती थीं। जिनके जीवनका प्रत्येक क्षण भगवान्‌में रमण करनेके लिये ही सुरक्षित था, उन नित्य परमात्मयोगमें अखण्ड रूपसे स्थित श्रीगोपीजनोंकी दिव्य लीलाओंकी नकल करनेवाले विषयी मनुष्य तो गहरे पतनके समुद्रमें गिरकर डूबते ही हैं!

गुप्त संत और उनके कार्य

अधिकांश सच्चे संत प्रायः अपनेको लोगोंमें प्रकट न करके ही जगत्‌में विचरण किया करते हैं। संत-परम्पराके परम प्रसिद्ध चिरंजीवी संत आज भी हैं और वे हमलोगोंके बीचमें आते भी हैं; पर हम उन्हें पहचान नहीं सकते। भिन्न-भिन्न स्तरोंमें भगवान्‌का कार्य करनेवाले ऐसे हजारों संत पृथ्वीपर हैं, जो लोकचक्षुसे परे रहकर अपना महत् कार्य कर रहे हैं। कहते हैं कि संतजगत्‌में सब कार्य नियमपूर्वक होते हैं। नये संतोंकी दीक्षा, पुरानोंके द्वारा विभिन्न कार्योंका सम्पादन, संतजगत्‌में शासन, नवीन कार्योंकी सूचना, जगत्‌के विपत्तिनिवारणकी व्यवस्था, प्रकृतिकी क्रियाओंद्वारा यथायोग्य दण्डविधान आदि महत्त्वपूर्ण कार्य सिद्ध संतोंके एक सुसंगठित मण्डल और उनकी विभिन्न अनेकों शाखाओंद्वारा सदा संचालित होते रहते हैं। ऐसे संतोंके सर्वोपरि संचालक परम सद्गुरु भगवान् शंकर हैं, जो रुद्ररूपसे जगत्‌का संहार और सुन्दर शिवरूपसे सदा कल्याण

करते रहते हैं। और उनकी अधीनतामें अनेकों सिद्ध-महात्मा संत पुरुष निरन्तर भगवल्लीलामें सहायक होकर भगवदाज्ञानुसार कार्य कर रहे हैं। इन संतोंको कुछ लेना है नहीं, पूजा करवानी नहीं, ख्याति और प्रशंसासे कोई सरोकार नहीं और लोगोंका प्रशंसापत्र न होनेसे इनका कोई नुकसान होता नहीं; फिर ये क्यों किसी बहिर्वेषमें जगत्के लोगोंके सामने प्रकट होकर अपना परिचय दें। हाँ, अधिकारी पुरुषको इनमेंसे किन्हीं-किन्हींके दर्शन आज भी होते हैं, हो सकते हैं। कहा जाता है कि देवर्षि नारद, सनकादि, भगवान् दत्तात्रेय, शुकदेव, मैत्रेय आदि प्राचीन और शंकराचार्य, रामानुजाचार्य तथा गोरखनाथ, भर्तृहरि, गोपीचन्द, कबीर, नानक, तुलसीदास, ज्ञानदेव, समर्थ गुरु रामदास आदिसे लेकर रामकृष्ण परमहंस, विजयकृष्ण गोस्वामी प्रभृति अर्वाचीन अनेकों संतोंके दर्शन आज भी उनके अन्तरङ्ग भक्तोंको होते हैं। इसमें कोई आश्चर्यकी बात भी नहीं है। यह तो सिद्ध संतमण्डलकी बात रही। अस्तु,

इन संतोंके सिवा छिपे हुए ऐसे अनेकों संत हैं—जो विविध स्थानोंमें विविध कार्य करते हुए हमलोगोंमें रह रहे हैं—जो अज्ञातरूपसे इस मण्डलकी दृष्टि और शासनसूत्रमें बँधे रहनेपर भी विभिन्न स्थानोंमें अप्रकटरूपसे साधन कर रहे हैं। अतएव यह नहीं समझना चाहिये कि जितने और जो हमलोगोंकी जानकारीमें हैं, वे और उतने ही संत हैं। संतोंके लिये यह कोई आवश्यक बात नहीं है कि वे संसारमें प्रसिद्ध हों ही। वरं प्रसिद्ध तो उनमेंसे बहुत थोड़े ही होते हैं और साथ ही यह भी याद रखना चाहिये कि संतकी

प्रसिद्धि पाये हुए अनेकों पुरुष वस्तुतः संत होते भी नहीं। उनका केवल संतका ऊपरी बानामात्र होता है। मन असंत तथा विषयी ही होता है। ऐसे लोगोंसे संसारकी बहुत बुराई होती है। ये धर्म-संचालनके कार्यमें अयोग्य होते हुए भी जब उसमें अनधिकार प्रवेश कर बैठते हैं, तब अपने हृदयके विकारों और व्याधियोंको ही जगत्में फैलाते हैं, और अपने सम्पर्कमें आनेवाले नर-नारियोंके जीवनोंको पापमय, फलतः दुःख और अशान्तिपूर्ण बनानेमें सहायक होते हैं। सच्चे संत अधिकांश अप्रकट ही रहते हैं, उनकी कोई ख्याति या प्रसिद्धि नहीं होती। ऐसे सच्चे संतोंको पाने और उन्हें पहचाननेके लिये संत-साधनाका आश्रय करना परम आवश्यक है। संतोचित साधनोंका—उपर्युक्त गीतोक्त चालीस साधनोंका अभ्यास करनेसे—ज्यों-ज्यों हमारे अंदर उन गुणोंका विकास होगा, त्यों-ही-त्यों हम संत और संतकृपाके अधिकारी होंगे। कठिनता तो यह है कि हम संतोंके चमत्कारोंको ही पूजते हैं, उनकी साधनाको नहीं—जिसके बिना हम यथार्थ लाभसे वञ्चित ही रह जाते हैं।

संतभावकी प्राप्तिके साधन

भगवान् या भगवान्के प्रेमकी प्राप्ति ही मनुष्यजीवनका उद्देश्य है और जो इस उद्देश्यमें सफल हो चुके हैं, वे ही संत हैं। अतएव इस संतभावकी प्राप्तिमें ही मनुष्य-जन्मकी सार्थकता है। इसकी प्राप्तिके अनेकों उपाय शास्त्रों और संतोंने बतलाये हैं, परंतु इनमें प्रधान दो ही हैं।—१—भगवान्की नित्य असीम कृपाका आश्रय और २—लक्ष्य-प्राप्तिके लिये दृढ निश्चय और अटल विश्वासके साथ किया जानेवाला पुरुषार्थ।

भक्तिमार्गी साधक दोनोंमेंसे एकका, अथवा दोनोंका साधन कर सकते हैं। परंतु ज्ञानमार्गी प्रायः दूसरेका ही करते हैं। योग तो दोनोंमें ही आवश्यक है। जबतक चित्तवृत्तिका अपने इष्टमें योग नहीं होता, तबतक साधनमें सफलता मिल ही नहीं सकती। उपर्युक्त दोनों उपायोंमें भक्तिमार्गीको पहला अधिक प्रिय होता है; वह अपने पुरुषार्थका भरोसा नहीं करता, और वैसा करनेमें वह अपनेमें एक अभिमानका दोष आता देखकर सिहर उठता है। साथ ही उसकी यह भी धारणा होती है कि जीवके पुरुषार्थसे भगवान्‌का मिलना असम्भव है; वे तो स्वयं कृपा करके जब अपना दर्शन देकर कृतार्थ करना चाहते हैं, तभी जीव उनके दर्शन पा सकता है। इसीलिये वह उनकी कृपापर विश्वास करके तन-मन-धनसे उनके शरणापन्न हो जाता है। परंतु इसका यह तात्पर्य नहीं कि वह सब क्रियाओंको त्यागकर चुपचाप हाथ-पर-हाथ रखकर बैठ जाता है या आलसीकी भाँति तानकर सोता है। वह पुरुषार्थ नहीं करता—इसका अर्थ यही है कि वह पुरुषार्थका अभिमान अपने अंदर नहीं उत्पन्न होने देता, परंतु अपने तन-मन-धन—सबको भगवान्‌का समझकर अनवरत उनकी सेवामें तो लगा ही रहता है, क्षणभर भी स्वच्छन्द विश्राम नहीं लेता। वस्तुतः वही परमपुरुषार्थी होता है, जो अपनेको भगवान्‌के परतन्त्र मानकर यन्त्रवत् उनकी सेवामें लगा रहता है। जो मनुष्य यह कहता है कि मैं भगवान्‌के शरणापन्न हूँ, मुझे तो उन्हींकी कृपाका भरोसा है, परंतु जो भगवान्‌के आज्ञानुसार सेवा नहीं करता, वह या तो स्वयं धोखेमें है या दूसरोंको धोखा दे रहा है। शरणागतिमें साधनका या पुरुषार्थका अथवा यों कहें कि अभिमानयुक्त कर्मका सर्वथा

अभाव है; क्योंकि शरणागतिके साधकको साधन या पुरुषार्थका आश्रय नहीं होता। परंतु उसमें भगवत्सेवारूप कर्मका कभी अभाव नहीं होता। भगवत्सेवाके लिये तो उसका सब कुछ समर्पित ही है। परंतु ऐसे भक्तको भी ज्ञानकी आवश्यकता है, ज्ञानकी सुदृढ़ नींवपर ही भक्तिकी विशाल और मनोहर अट्टालिका खड़ी हो सकती है और ज्ञानमें प्रेम तो है ही। अतएव यद्यपि इन दोनोंका समन्वय है, तथापि एककी प्रधानतामें दूसरा छिपा-सा रहता है। इससे वह स्पष्ट व्यक्त नहीं होता।

गीतोक्त निष्कामकर्मयोग तो अहैतुकी सक्रिय भक्तिका ही एक रूपान्तरमात्र है। निष्कामकर्मयोगी कर्ममें आसक्ति और फलकी चाह न रखकर सब कुछ भगवान्‌के लिये ही करता है। वह समझता है कि कर्ममें ही मेरा अधिकार है, फलमें कदापि नहीं। सब साधनोंके एकमात्र परमफल तो भगवान् ही होने चाहिये, फिर मैं भगवदर्थ कर्म करनेसे वञ्चित क्यों रहूँ। यह समझकर वह ममता, आसक्ति औ आशा-निराशाको छोड़कर मन-बुद्धि आदिको भगवान्‌के अर्पणकर नित्य-निरन्तर भगवान्‌का स्मरण करता हुआ भगवान्‌की पूजाके लिये ही अपने जिम्मे आये हुए कर्मोंका सुचारुरूपसे निःसङ्ग होकर उत्साह-पूर्वक सम्पादन करता रहता है।

तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधानात्मक पतञ्जल्युक्त क्रियायोग-का भी भक्तियोगमें समावेश हो जाता है। भक्ति-साधनामें होने-वाले नाना प्रकारके कष्टोंको भक्त सत्कारपूर्वक सहन करता है, भगवान्‌की सेवामें प्राणतक देनेमें वह आनन्दका अनुभव करता है

और प्रारब्धवश प्राप्त हुए प्रत्येक भीषण-से-भीषण संकटको वह भगवत्-प्रसाद समझकर उसका सुखपूर्वक स्वागत करता है—यह उसका परम तप है। वह सदा-सर्वदा भगवद्गुणानुवादके पढ़ने-सुननेमें तथा भगवान्‌के नाम-जपमें अपनेको लगाये रखता है—यह उसका स्वाध्याय है; और ईश्वरके अनन्य शरण तो वह है ही। अवश्य ही पतञ्जल्युक्त क्रियायोगका पृथक् साधन भी संतभावकी प्राप्तिमें प्रधान उपाय हो सकता है, परंतु उसमें भी ज्ञान और भक्तिका सम्मिश्रण है ही। बहुत-से साधक अष्टाङ्गयोग और षडङ्ग हठयोगका साधन करते हैं और वह है भी बहुत ठीक; परंतु ये सारे साधन उपर्युक्त दूसरे साधनमें आ जाते हैं।

यद्यपि सबके लिये एक-से ही साधन समानरूपसे उपयोगी नहीं हो सकते, तथापि नीचे कुछ ऐसे उपाय लिखे जाते हैं, जिनके साधन करनेसे संतभावकी प्राप्तिमें बहुत कुछ सहायता मिल सकती है।

१—शुद्ध सत्य कमाईका परिमित और नियमित लघु भोजन करना।

२—मीठी सत्य वाणी बोलना।

३—सबकी यथायोग्य सेवा करना, परंतु मनमें ममत्व और अभिमान न आने देना।

४—शिष्य न बनाना।

५—पूजा-प्रतिष्ठा और ख्यातिसे यथासाध्य बचना।

६—तर्क-वितर्क, वाद-विवाद, खण्डन-मण्डन और कलह न करना।

७—अपने इष्ट और साधनको ही सर्वोपरि मानना, परंतु दूसरेके इष्ट और साधनको न नीचा समझना, न उनकी निन्दा करना।

८—शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिको सदा शुद्ध आध्यात्मिक वायुमण्डलमें रखनेकी चेष्टा करना। यथासाध्य इनको भगवत्सम्बन्धी कार्योंमें ही लगाये रखना।

९—भगवान्‌को सर्वत्र, सर्वदा विराजित देखना।

१०—प्रतिदिन कम-से-कम दो घंटे एकान्तमें भगवान्‌का ध्यान करना, भगवान्‌से भगवद्भावको पानेकी सच्ची प्रार्थना करना और ऐसा अनुभव करना मानो भगवान्‌की पवित्र शक्ति मेरे अंदर प्रवेश कर रही है और मेरा हृदय पवित्रसे और पवित्रतम होता जा रहा है और अज्ञान, अहंता, ममता, राग-द्वेषादि दोषोंका नाश होकर उनके स्थानपर दैवी गुणोंका विकास बड़ी तेजीसे हो रहा है।

११—काम, क्रोध, लोभ, दम्भ, दर्प, वैर, ईर्ष्या आदि मानसिक दोषोंको अपने अंदर जगह देनेसे इन्कार कर देना, इनको जरा भी आदर न देना और पद-पदपर इनका तिरस्कार करना। याद रखना चाहिये कि ये सब दोष हमारी लापरवाही अथवा अज्ञात वा ज्ञात अनुमतिसे ही हमारे अंदर रह रहे हैं। जिस दिन हमारा आत्मा बलपूर्वक इनको अंदर रहनेसे रोक देगा, उस दिनसे इनका अंदर रहना कठिन हो जायगा। बार-बार तिरस्कारपूर्ण धक्के खा-खाकर आखिर ये हमारे अंदरसे सदाके लिये चले जायँगे।

१२—मन जहाँ-तहाँ दौड़ता है और मनमानी करता है, इसमें प्रधान कारण हमारी कमजोरी ही है। वस्तुतः आत्माकी

दृष्टिसे या अनन्तशक्ति परमात्माका सनातन अंश होनेके कारण—जीवमें अपार शक्ति है; उस आत्मिक या ईश्वरीय शक्तिके सामने मन-इन्द्रिय आदिकी शक्ति तुच्छ और नगण्य है। बल्कि मन-इन्द्रियादिमें जो शक्ति है, वह आत्माकी ही दी हुई है। शक्तिका मूल उत्स और एकमात्र भंडार तो आत्मा ही है। वह आत्मा यदि अपने स्वरूपको सम्हालकर, उसमें प्रतिष्ठित होकर बलपूर्वक मन-इन्द्रियादिको आज्ञा दे दे कि 'खबरदार, अब तुम असत् विषयोंको अपने अंदर नहीं रख सकते' तो फिर इनकी ताकत नहीं कि ये इन विषयोंको अपनेमें स्थान दे सकें। इसलिये मन-इन्द्रियोंको सदा आत्माका अनिवार्य आदेश देते रहना चाहिये। पूर्वाभ्यासवश आत्मासे अनुमति पानेकी इनकी चेष्टा एक-ही-दो बारके आदेशसे नष्ट नहीं हो जायगी। परंतु जब-जब ये अनुमति माँगें, तभी तब इनसे स्पष्टतया कह देना चाहिये कि 'तुम हमारे अधीन हो—तुम्हें हमारे आज्ञानुसार चलना ही होगा।' और इन्हें बड़ी सावधानीसे निरन्तर भगवान्‌में लगाये रखना चाहिये।

१३—अपने इष्ट-मन्त्रका या भगवन्नामका स्मरण-चिन्तन जितना अधिक-से-अधिक हो सके, श्रद्धा और विश्वासपूर्वक करना चाहिये।

१४—जहाँतक हो सके, स्त्रियोंसे मिलना-जुलना बंद कर देना चाहिये। संतभावको चाहनेवाली स्त्रियाँ भी पुरुषोंसे अनावश्यक और अधिक न मिलें।

१५—यथासाध्य सांसारिक वस्तुओंका संग्रह कम-से-कम करना चाहिये और संगृहीत वस्तुओंपर एकमात्र परमात्माका ही अधिकार मानना चाहिये।

संतभावकी प्राप्तिमें विघ्न

संतभावकी प्राप्तिमें प्रधान विघ्न है—कीर्तिकी कामना । स्त्री-पुत्र, घर-द्वार, धन-ऐश्वर्य और मान-सम्मानका त्याग कर चुकनेवाला पुरुष भी कीर्तिकी मोहिनीमें फँस जाता है । कीर्तिकी कामनाका त्याग तो दूर रहा, स्थूल मान-प्रतिष्ठाका त्याग भी बहुत कठिन होता है । जिस मनुष्यकी साधनधारा चुपचाप चलती है, उसको इतना डर नहीं है; परंतु जिसके साधक होनेका लोगोंको पता चल जाता है, उसकी क्रमशः ख्याति होने लगती है, फिर उसकी पूजा-प्रतिष्ठा आरम्भ होती है, स्थान-स्थानपर उसका मान-सम्मान होता है, और इस पूजा-प्रतिष्ठा तथा मान-सम्मानमें जहाँ उसका तनिक भी फँसाव हुआ कि पतन आरम्भ हो जाता है । इन्द्रियाँ प्रबल हैं ही—मान-सम्मान तथा पूजा-प्रतिष्ठामें जहाँ इन्द्रियोंको आराम पहुँचानेवाले भोग भक्तोंद्वारा समर्पित होकर इन्द्रियोंको उपभोगार्थ मिलने लगे, वहीं उनकी भोग-वासना और भी विशेष जाग्रत् होकर प्रबल हो उठती है, इन्द्रियाँ मनको खींचती हैं, मन बुद्धिको—और जहाँ बुद्धि अपने परम लक्ष्य परमात्माको छोड़कर विषय-सेवन-परायण इन्द्रियोंके अधीन हो जाती है, वहीं सर्वनाश हो जाता है । अतएव संतभावकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करनेवाले साधकोंको बड़ी ही सावधानीके साथ ख्याति, मान-सम्मान, पूजा-प्रतिष्ठा आदिसे अपनेको बचाये रखना चाहिये । इन सबको अपने साधनमार्गमें प्रधान विघ्न समझकर इनका विषवत् त्याग करना चाहिये । यह बात याद रखनी चाहिये कि विषयी पुरुषोंकी मनोवृत्तिसे साधककी मनोवृत्ति सर्वथा विपरीत होती है । विषयी

धन-ऐश्वर्य, मान-यश आदिके प्रलोभनमें पड़ा रहता है तो साधक इनके त्याग या इनसे अलिप्त रहनेमें ही अपना कल्याण समझता है।

ऐसे साधकोंके भक्तों और अनुयायियोंको भी चाहिये कि वे संतसेवा—गुरुभक्तिके नामपर भ्रमवश इन्द्रियोंकी भूख बढ़ानेवाले मोहक भोग उनके चरणोंपर चढ़ाकर उनके लिये विलाससामग्रियोंका संग्रह करके उन्हें पवित्र मर्यादित संत-जीवनसे गिरानेकी चेष्टा न करें। संत और गुरुका सम्मान और उनकी पूजा करना शिष्यका परम कर्तव्य है और उसके लिये लाभदायक भी है; परंतु उनकी सच्ची पूजा उसी कार्यमें है जो उनके लिये हानिकर नहीं है और जो आध्यात्मिक उन्नतिमें सहायक होनेके कारण हृदयसे उनका इच्छित है। जो मान-सम्मान और पूजा-प्रतिष्ठाके लिये ही संतका बाना धारण करता है,वह तो संत ही नहीं है। इसलिये सच्चे साधक संत मान-सम्मान और पूजा-प्रतिष्ठाकी इच्छा क्यों करने लगे। यदि भ्रमवश करते हैं तो वह उनके साधनमें विघ्नरूप होनेके कारण उनके लिये महान् हानिकर है। अतएव भक्त और शिष्योंको संत और गुरुके लिये विलास-सामग्री जुटानेमें आत्मसंयमसे काम लेना चाहिये; क्योंकि विलास-सामग्रीसे संतका यथार्थ सम्मान कभी नहीं होता। बल्कि त्यागी महात्माको भोगपदार्थ देना या भोगपदार्थके लिये उनके मनमें लालच उत्पन्न करनेकी चेष्टा करना तो उनका अपमान या तिरस्कार ही करना है। शरशय्यापर पड़े हुए वीरशिरोमणि भीष्मके लटकते हुए मस्तकके लिये रूईका तकिया नहीं शोभा देता, उसके लिये तो अर्जुनके तीक्ष्ण बाणोंका तकिया ही प्रशस्त और योग्य है। इसी

प्रकार संत-महात्माओंका यथार्थ सम्मान उनके आज्ञापालनमें, उनके आदर्श चरित्रके अनुकरणमें और उनके वेषके अनुरूप ही उनकी सेवा करनेमें है। पहुँचे हुए संत-महात्मा पुरुष कभी भक्तोंका अत्यन्त आग्रह देखकर उनकी प्रसन्नताके लिये किसी वैध भोग-सामग्रीको स्वीकार कर लेते हैं, जो निषिद्ध न होनेपर भी उनके स्वरूपके अनुरूप शोभा देनेवाली नहीं है, तो इससे उनका अवश्य ही कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं; वे तो अपने स्वरूपके विपरीत वस्तुका स्वीकार करके अपने संत-स्वभावका ही सुन्दर परिचय देते हैं। परंतु उनकी देखादेखी साधक संत यदि वैसा करने लगते हैं तो उनकी बड़ी हानि हो सकती है। अतएव साधक संतोंको इस विघ्नसे बचे रहना चाहिये।

विलास-सामग्री, मान-सम्मान और पूजा-प्रतिष्ठाका त्याग करनेपर भी इनके त्यागसे होनेवाली कीर्तिकी कामना तो किसी-न-किसी अंशमें साधकके मनमें प्रायः रह ही जाती है। इसीलिये सच्चे संतलोग त्यागका भी त्याग कर देना चाहते हैं, उनके लिये त्यागकी स्मृति भी रसहीन हो जाती है। इस प्रकार जिन संत-महात्माओंने मान-बड़ाई, पूजा-प्रतिष्ठाके साथ ही कीर्ति-कामनाका भी कतई त्याग कर दिया है, वे ही यथार्थ संत हैं। साधक-संतोंके लिये इस कीर्ति-कामनारूपी प्रधान विघ्नके त्यागकी तो आवश्यकता है ही, छोटे-छोटे निम्नलिखित विघ्नोंसे भी उन्हें बचे रहना चाहिये। ये छोटे विघ्न भी आश्रय पानेसे आगे चलकर बड़े हो जाते हैं और साधकको लक्ष्यच्युत करके उसका सर्वनाश कर देते हैं—

१—सभा-समितियोंमें शामिल होना और अनावश्यक अखबार पढ़ना ।

२—किसी भी मनुष्यविशेष, स्थानविशेष या वस्तुविशेषमें विशेषरूपसे ममता होना ।

३—मठ या आश्रमादिकी स्थापना करना ।

४—साधनमें आलस्य, दीर्घसूत्रता, प्रमाद, अश्रद्धा, अविश्वास और निश्चयकी कमी ।

५—शास्त्रार्थ करना ।

६—अपनेको संत समझना और दूसरोंको असंत ।

७—दूसरोंके दोष देखना और उन्हें प्रकट करना ।

८—किसी भी मनुष्यका अपमान करना और किसीकी निन्दा करना ।

९—परचर्चा ।

१०—नाटक-सिनेमा आदि देखना—असत् साहित्य पढ़ना ।

११—अशास्त्रीय कार्यमें रुचि ।

१२—बड़ोंका असम्मान ।

१३—किसी भी जीवसे घृणा करना ।

१४—विपत्तिमें घबराकर और सम्पत्तिमें हर्षसे फूलकर कर्तव्यको भूल जाना ।

१५—जगत्के विषयोंकी प्राप्तिमें जीवनकी सफलता समझना और इस सफलतामें भगवान्‌की कृपाका या किसी साधन-सिद्धिका अनुभव करना ।

१६—किसी कारणवश किसी कार्यके अकस्मात् सिद्ध हो जानेपर या किसी बातके सत्य हो जानेपर अपनेको सिद्ध मानना और लोगोंको चमत्कार दिखलानेकी इच्छा करना।

संतसे जगत्‌का उपकार और संत-महिमा

संतका जीवन ही जगत्‌के कल्याणके लिये होता है; अतएव उनका जगत्‌पर जितना उपकार है, उतना और किसीका भी नहीं है। उनका लोकसेवाव्रत और उनका यथार्थ विश्वप्रेम जगत्‌में जिस कल्याणकी सुधाधारा बहाता रहता है, वह धारा यदि कभी सूख गयी होती तो अबतक सारा जगत् सर्वथा राक्षसोंका भयानक नरकागार बन गया होता। देवासुरयुद्ध चलता है, कभी-कभी असुरोंकी विजय होती है, राक्षसोंका अभ्युदय भी होता है; परंतु संतोंका अस्तित्व और उनका अनवरत कल्याण-वितरण राक्षसोंको स्थायी नहीं होने देता। संत जब निरुपाय-से हो जाते हैं या स्वयं अपनी तपःशक्तिसे कार्य न लेकर भगवान्‌से काम लेना चाहते हैं, तब संतोंके रक्षणार्थ स्वयं भगवान्‌को अवतीर्ण होना पड़ता है; वस्तुतः भगवान्‌के अवतारमें प्रधान हेतु 'साधु-परित्राण' ही है। संत जगत्‌में जिन विशुद्ध सात्त्विक परमाणुओंको फैलाते रहते हैं, उसीसे सत्त्वगुण और सदाचारकी रक्षा होती है। संत प्रत्यक्ष भगवान्‌के विग्रह हैं। भगवान्‌से मिलना बहुत कठिन है, परंतु संत हमसे मिलनेके लिये ही संसारमें—हमलोगोंके बीचमें रहते हैं—इससे ये हमारे लिये भगवान्‌से बढ़कर उपादेय हैं; क्योंकि ये संसारसे सर्वथा पृथक् रहकर भी—प्रपञ्चसे सर्वथा उदासीन होनेपर भी हमारे

बहुत ही निकट रहते हैं और हमें हाथ पकड़कर वैकुण्ठधाममें पहुँचा देते हैं। यही तो इनका सबसे बड़ा चमत्कार है। संतोंकी वेषभूषा, उनकी भाषा-भङ्गी, उनकी शिक्षा-दीक्षाकी ओर न देखकर उनकी नित्य समता, बुद्धिमत्तापूर्ण असाधारण सरलता और प्रभुमय जीवनसे सबको लाभ उठाना चाहिये। संत विश्वके सूर्य हैं, उसके प्राण हैं, उसके आकाश हैं, उसके हृदय हैं, उसके अवलम्बन हैं, उसके आत्मीय हैं और उसके आत्मा हैं। वे स्वयं सब समय परमात्मामें स्थित रहते हुए ही, प्रत्येक प्रतिकूलतामें साक्षात् आत्म-स्वरूप अनुकूलताका स्वाभाविक अनुभव करते हुए ही, जगत्के प्राणियोंकी दुःखदायिनी प्रतिकूलताको अनुकूलतामें परिणत करनेके लिये प्रयत्नवान् रहते हैं, उनकी वाणीसे अमर ज्ञानामृत झरता है, उनके नेत्रोंसे प्रेमकी शीतल सुखद ज्योति निकलती है, उनके मस्तिष्कसे जगत्का कल्याण प्रसूत होता है, उनके हृदयसे आनन्दकी धारा बहती है। जो उनके सम्पर्कमें आ जाता है, वह पाप-तापसे मुक्त होकर महात्मा बन जाता है। वे जिस देशमें रहते हैं, वह देश पुण्यतीर्थ बन जाता है; वे जो उपदेश करते हैं, वह पावन शास्त्र हो जाता है; वे जिन कर्मोंको करते हैं, वे ही कर्म सत्कर्म समझे जाते हैं।

तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि, सुकर्मीकुर्वन्ति कर्माणि, सच्छास्त्रीकुर्वन्ति शास्त्राणि।

(नारदभक्तिसूत्र ६९)

वह देश धन्य है, जहाँ ये रहते हैं; वह माता धन्य है, जिसकी कोखसे ये प्रकट होते हैं; वह मनुष्य धन्य है, जो इनके सम्पर्कमें

आता है; वह वाणी धन्य है, जो इनका स्तवन करती है और वे कान धन्य हैं, जिनको इनके उपदेशामृत पान करनेका अवसर मिलता है।

> कुलं पवित्रं जननी कृतार्था
> वसुन्धरा पुण्यवती च तेन ।
> अपारसंवित्सुखसागरेऽस्मिँ-
> ल्लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः ॥
>
> (स्कन्दपुराण)

संतोंकी महिमा गाते हुए स्वयं भगवान् कहते हैं कि 'जो अकिञ्चन, जितेन्द्रिय, शान्त, समबुद्धि संतपुरुष मुझको लेकर ही संतुष्ट है, उसके लिये सब ओर आनन्द-ही-आनन्द है। मुझमें ही चित्तको सदा लगाये रखनेवाला ऐसा पुरुष मुझको छोड़कर ब्रह्माका पद, इन्द्रपद, चक्रवर्ती राज्य, पातालादिका राज्य, योगकी सिद्धियाँ और मोक्ष भी नहीं चाहता। इसीलिये हे उद्धव! तुम-जैसे संत भक्त मुझको जितने प्यारे हैं, उतने मेरे आत्मस्वरूप साक्षात् ब्रह्मा, शंकर, बलभद्रजी, लक्ष्मी और अपना आत्मा भी प्यारे नहीं हैं। मैं ऐसे निरपेक्ष, शान्त, निर्वैर और समदर्शी संतकी चरणरजसे अपनेको पवित्र करनेके लिये सदा ही उसके पीछे-पीछे फिरा करता हूँ—

> निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम् ।
> अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः ॥
>
> (श्रीमद्भा० ११ । १४ । १६)

निर्भरा भक्ति

नान्या स्पृहा रघुपते हृदयेऽस्मदीये
सत्यं वदामि च भवानखिलान्तरात्मा ।
भक्तिं प्रयच्छ रघुपुङ्गव निर्भरां मे
कामादिदोषरहितं कुरु मानसं च ॥
(रामचरितमानस)

भक्तिके अनेक प्रकार हैं, उनमेंसे एकका नाम है निर्भरा भक्ति। प्रपत्ति, शरणागति, आत्मनिवेदन, समर्पण आदिके साथ इसका प्रायः सादृश्य है। इस भक्तिमें भक्त स्वाभाविक ही केवल भगवच्चिन्तन-परायण रहता है, शेष सारा काम भगवान् करते हैं। इसके कई स्तर हैं; और अधिकारिभेदसे उनके पृथक्-पृथक् स्वरूप और उपयोग हैं।

निर्भरा भक्तिमें सबसे पहली आवश्यक चीज है 'विश्वास'। भगवान्में जिसका यह दृढ़ विश्वास होगा कि भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, सर्वेश्वर हैं, मेरे परम आत्मीय हैं, वही अपने किसी कामके लिये भगवान्पर निर्भर करेगा। संसारमें भी हम देखते हैं कि किसी भी क्षेत्रमें और किसी भी कामके लिये जिसमें विश्वास होता है, उसीपर मनुष्य भरोसा करता है। जिसके सम्बन्धमें मनुष्यकी यह धारणा होती है कि

'इससे मेरा काम नहीं सधेगा, अथवा सधेगा—इसमें सन्देह है, या मेरा काम साधनेकी इसमें योग्यता तो है परंतु मेरा काम यह क्यों करेगा, अथवा यह मेरा हित तो करना चाहता है परंतु इसमें योग्यता एवं शक्तिका अभाव है,' उसपर मनुष्य कभी अपने कामके लिये निर्भर नहीं कर सकता, चाहे वह कितना ही शक्तिमान् हो अथवा कितना ही सुहृद् हो। जिसमें दोनों बातें हों, उसीपर मनुष्य भरोसा करता है। और यही भरोसा बढ़ते-बढ़ते निर्भरताके स्वरूपमें परिणत हो जाता है। इसीसे भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥
(५।२९)

'मुझको समस्त यज्ञ-तपोंका भोक्ता, सब लोकोंका महान् ईश्वर और सब प्राणियोंका अहैतुक मित्र जान लेनेपर मनुष्य शान्तिको प्राप्त हो जाता है।'

मनुष्यके मनमें नाना प्रकारके मनोरथ हैं। संसारमें वह सदा ही अपनेको किसी-न-किसी अभावसे ग्रस्त पाता है। किसी भी अवस्थामें वह यह अनुभव नहीं करता कि मुझको सब कुछ मिल गया, अब और कुछ भी नहीं चाहिये। बड़ी-से-बड़ी दुर्लभ वस्तुके पानेपर भी वह उसमें किसी कमीका अनुभव करता है और यह सोचता है कि जब मेरी यह कमी पूरी होगी, तब मुझे शान्ति मिलेगी। यह अभावका अनुभव कभी मनुष्यके चित्तको शान्त नहीं होने देता। शान्तिकी दो ही स्थितियाँ हैं। एक तो वह, जिसमें पहुँचनेपर

वह स्वयं शान्तिस्वरूप हो जाता है । फिर उसे किसी वस्तुकी कमीका कभी बोध होता ही नहीं । वह सभीमें सर्वत्र, सर्वथा और सर्वदा एकमात्र परमात्माको देखता है और अपनेको उनसे अभिन्न पाता है । उसकी यह पूर्णता उसकी स्वरूपभूता होती है, इसीका नाम मुक्ति है । दूसरी वह स्थिति है, जिसमें वह अपनेको सदा-सर्वदा भगवान्‌के संरक्षणमें पाता है, जहाँ भगवान् अनन्त हाथों और अनन्त शक्तियोंसे उसकी कमीको पूरा करनेके लिये सदा प्रस्तुत रहते हैं परंतु उसे भगवान्‌को पाकर किसी कमीका अनुभव होता ही नहीं, वह कृतार्थ हो जाता है—यहाँतक कि मुक्तिकी ओर भी उसकी दृष्टि भूलकर भी कभी नहीं जाती । वह इस बातको पहले ही जान चुकता है कि जगत्‌में जितने भी यज्ञ-तप किये जाते हैं, विभिन्न देवताओंके रूपमें एकमात्र भगवान् ही उन सबके भोक्ता हैं; अतएव देवोपासनारूप कर्मसे जिनको जो कुछ भी फल मिलता है, सब भगवान्‌के अपरिमित भंडारसे ही आता है । भगवान् ही सब लोकोंके विभिन्न ईश्वरोंके एकमात्र महान् ईश्वर हैं और वे भगवान् जीवमात्रके परम सुहृद् होनेके कारण मेरे भी परम सुहृद् हैं । यह जानते ही उसे शान्ति मिल जाती है । उसे निश्चय हो जाता है कि अब मैं सब प्रकारसे सुरक्षित और पूर्णकाम हो गया; क्योंकि जिनमें समस्त सत्-कर्मोंका फल निहित है, वे सब ईश्वरोंके ईश्वर सर्वशक्तिमान् भगवान् जब मेरे परम सुहृद् हैं, तब मुझे किसका डर और किस बातका अभाव रह गया । ऐसी अवस्थामें वह सब प्रकारसे भगवान्‌पर निर्भर करके निश्चिन्त और शान्तचित्त हो जाता है ।

सकाम भक्तोंमें तीन तरहके भक्त माने गये हैं—अर्थार्थी, आर्त और जिज्ञासु ('आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी') । इनमें एक तो वह है, जो किसी भी अर्थकी सिद्धिके लिये—धन, जन, मान, यश, भोग, स्वर्ग आदिकी प्राप्तिके लिये भगवान्‌को भजता है; दूसरा वह है, जो प्रारब्धवश किसी संकटमें पड़कर उससे त्राण पानेके लिये भगवान्‌की भक्ति करता है और तीसरा वह है, जो भगवान्‌की प्राप्तिका सरल और सहज पथ जाननेके लिये भगवान्‌को याद करता है । इन तीनों सकाम भक्तोंकी सकाम भक्तिको भी तभी पूर्ण समझना चाहिये जब कि वे भगवान्‌को ही एकमात्र आश्रय मानकर उन्हींपर निर्भर करें । और तभी उन्हें अनायास फल भी मिलता है । ध्रुव अर्थार्थी भक्त थे; वे ज्यों ही भगवान्‌पर निर्भर हुए, त्यों ही उन्हें उनका इच्छित फल मिल गया । द्रौपदी और गजराज आर्त भक्त थे और जबतक वे दूसरोंसे त्राणकी जरा भी आशा करते रहे, तबतक उनके संकट दूर नहीं हुए; जब एकमात्र भगवान्‌पर निर्भर करके उनको पुकारा, तब उसी क्षण भगवान्‌ने स्वयं प्रकट होकर उनके दुःख दूर कर दिये । जिज्ञासु भक्त तो ऐसे बहुत हुए हैं, जो भगवान्‌पर निर्भर करके भगवत्प्रेरणासे भगवान्‌के पथपर सहज ही आरूढ़ हो गये हैं । सकाम भावकी इस निर्भरताके लिये बंदरके बच्चेसे तुलना करके संतलोग बिल्लीके बच्चेका दृष्टान्त दिया करते हैं । बंदरका बच्चा स्वयं कूदकर माँको पकड़कर उसका स्तनपान करने लगता है । परंतु भूखा बिल्लीका बच्चा माँकी प्रतीक्षा करता हुआ अपने स्थानमें बैठा रहता है; स्वयं माँ उसकी चिन्ता करती है और उसके पास आकर जहाँ ले जाना होता है, अपने

मुँहसे उठाकर उसे वहाँ ले जाती है और अपना दूध पिलाकर संतुष्ट करती है। इसी प्रकार जो मनुष्य किसी भी कामकी सिद्धिके लिये श्रद्धा-विश्वासपूर्वक भगवत्कृपाकी प्रतीक्षा करते हुए भगवान्पर निर्भर करते हैं, उनके कामको भगवान् स्वयं पधारकर पूरा कर देते हैं। नरसी मेहता आदि अनेक भक्तोंके उदाहरण इसमें प्रमाण हैं। परंतु जहाँतक ऐसा सकामभाव है, वहाँतक भगवान्पर निर्भरता आंशिक ही है।

इसके बाद यह होता है कि मनुष्य कुछ चाहता तो है, उसे अभावका अनुभव तो होता है; परंतु उस अभावकी पूर्ति किस वस्तुसे होगी, इसको वह नहीं जानता। उसे विश्वास होता है कि जिस वस्तुसे मेरे अभावकी पूर्ति होगी, उसको भगवान् जानते हैं और इसलिये वह उस अज्ञात वस्तुके लिये भगवान्पर निर्भर करता है। जैसे छोटा शिशु बिस्तरपर पड़ा रोता है, उसे कोई कष्ट है—जाड़ा लग रहा है, मच्छर काट रहे हैं, या और कोई पीड़ा है। वह यह नहीं जानता कि किस वस्तुकी प्राप्ति होनेपर मेरा संकट दूर होगा—वह केवल माँको जानता है और रोकर माँको बुलाता है। माँ आकर स्वयं पता लगाती है कि बच्चा क्यों रो रहा है और पता लगाकर स्वयं उसके कष्ट निवारणका उपाय करती है। इसी प्रकार इस अवस्थामें भक्त अपने लिये उपयोगी अज्ञात फलके लिये भगवान्पर निर्भर करता है और उन्हींकी कृपासे कल्याणकारी फलको प्राप्त करके संतुष्ट होता है। इसमें फलरूप वस्तुका निर्णय भगवान् करते हैं, इस दृष्टिसे निर्भरताका यह स्तर पहलेसे ऊँचा होनेपर भी सकामभाव होनेके कारण यह भी वस्तुतः आंशिक ही है।

इसके बाद उन भक्तोंकी बात है, जो केवल भगवान्‌को ही प्राप्त करना चाहते हैं और उसके लिये भगवान्‌पर ही निर्भर करते हैं। इनके लिये भी बिल्लीके बच्चे और छोटे शिशुके उदाहरण लागू पड़ सकते हैं। ये केवल चिन्तनपरायण रहते हैं, उसका फल भगवान्‌की प्राप्ति कब होगी, क्योंकर होगी—इस बातको भगवान्‌पर ही छोड़ देते हैं, और वास्तवमें यों सब कुछ भगवान्‌पर छोड़नेवाले बड़े लाभमें ही रहते हैं। क्योंकि प्रथम तो कोई शर्त न होनेसे इनके भजनमें निष्काम और अनन्यभाव रहता है; दूसरे, जिनको पाना है, वेही भगवान् जब स्वयं मिलना चाहें, तब उनके मिलनेमें विलम्ब भी नहीं होता। भक्तको कहीं चलकर नहीं जाना पड़ता, बिल्लीकी भाँति या छोटे शिशुकी स्नेहमयी जननीकी भाँति स्वयं भगवान् ही उसके समीप आ जाते हैं। ऐसे ही भक्तोंके लिये भगवान्‌की यह प्रतिज्ञा है—

> अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
> तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
>
> (गीता ९। २२)

'केवल मुझपर ही निर्भर करनेवाले जो भक्त नित्य मेरा चिन्तन करते हुए मुझे भलीभाँति भजते हैं, उन नित्य मुझमें लगे हुए भक्तोंका 'योगक्षेम' मैं स्वयं वहन करता हूँ।'

अप्राप्त वस्तुकी प्राप्तिका नाम 'योग' है और प्राप्त वस्तुके संरक्षणका नाम 'क्षेम' है। इस 'योग' और 'क्षेम' के वहनका सारा भार स्वयं भगवान् अपने ऊपर ले लेते हैं। संसारमें हम देखते हैं कि अल्पज्ञ और अल्पशक्तिवाले होनेपर भी जिनपर हमारा विश्वास होता है, वे वैद्य-डाक्टर जब हमारे इलाजका भार ले लेते हैं, तब

हम निश्चिन्त होकर उनपर निर्भर करने लगते हैं। अपना जीवन उन्हें सौंप देते हैं, विश्वासपूर्वक उनकी दी हुई दवा लेते हैं—चाहे वह जहर ही क्यों न हो—और उनके आज्ञानुसार पथ्य भी करते हैं। हमारी असमर्थतामें कोई श्रेष्ठ पुरुष जिनकी शक्ति और हितैषितापर हमारा विश्वास होता है, हमारे जीवन-निर्वाहका भार ले लेते हैं, तब हम निश्चिन्त होकर उनपर अपनेको छोड़ देते हैं। केवटके विश्वासपर नौकामें बैठ जाते हैं, चलानेवालेपर निर्भर करके मोटर और हवाईजहाजमें बैठ जाते हैं और मनमें कोई चिन्ता नहीं करते। तब स्वयं अपने मुँहसे हमारे सुहृद् होनेकी घोषणा करनेवाले सर्वसमर्थ सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ सर्वलोकमहेश्वर भगवान्पर निर्भर करनेमें तो हमारा कल्याण-ही-कल्याण है। वे हमारे परम सुहृद् हैं, इसलिये कभी अकल्याण नहीं कर सकते; वे सर्वज्ञ हैं, इसलिये हमारा कल्याण किस बातमें है, इसको अच्छी तरह जानते हैं, वे कभी भूल नहीं कर सकते। और सर्वशक्तिमान् हैं, इसलिये हमारा कल्याण अनायास ही कर सकते हैं। और वे यहाँतक जिम्मा लेनेको तैयार हैं कि तुम्हारे लिये जो आवश्यक अप्राप्त वस्तु है, उसकी प्राप्ति मैं करा दूँगा और जो आवश्यक वस्तु प्राप्त है, उसकी रक्षा मैं करूँगा। इतनेपर भी हम यदि उनपर निर्भर करके उनके चिन्तनपरायण नहीं होते, तो फिर हमारे समान मन्दबुद्धि और मन्दभाग्य और कौन होगा।

यहाँ इस 'योगक्षेम' से यह अर्थ भी लिया जाता है कि भक्तके देह-परिवारादिकी रक्षा और उसके लिये आवश्यक लौकिक पदार्थोंकी

व्यवस्था भी भगवान् करते हैं। और ऐसा अर्थ लेना अनुचित भी नहीं है; क्योंकि अनन्य भक्तकी तो अपने भगवान्‌को छोड़कर न किसी अन्य वस्तुमें आसक्ति है, न किसी वस्तुकी ओर उसका लक्ष्य है, न देह-परिवारादिके देख-रेखकी उसे चिन्ता है, और न उसे दूसरेके अस्तित्वकी कल्पना करनेके लिये अवकाश ही है। ऐसी अवस्थामें भक्तवत्सल भगवान् उसके देह-परिवारादिके लिये आवश्यक प्राप्त सामग्रियोंकी रक्षा करें और अप्राप्तकी प्राप्ति करवा दें तो इसमें क्या अनहोनी बात है? बल्कि भगवान्‌पर निर्भर करनेवाले भक्तका 'योगक्षेम' और भी अच्छा होना चाहिये। वह अपनी परिमित शक्तिसे उतनी रक्षा नहीं कर सकता, जितनी भगवान्‌की शक्तिसे हो सकती है, और इसी प्रकार वह अपने लिये आवश्यक वस्तुओंका भी संग्रह इच्छानुसार नहीं कर सकता; क्योंकि उसके पास उनके संग्रह करनेके लिये उतना मूल्य देनेकी भी सामर्थ्य नहीं है। परंतु समस्त ऐश्वर्यके महान् ईश्वर भगवान् जो चाहे वही वस्तु—चाहे वह वस्तु मनुष्यकी ताकतसे कितनी भी दुर्लभ हो—उसे अनायास दे सकते हैं। ऐसी अवस्थामें अपने बलपर निर्भर करनेवालेकी अपेक्षा भगवान्‌पर निर्भर करनेवाला स्वाभाविक ही उत्तम-से-उत्तम 'योगक्षेम' को प्राप्त होता है। परंतु जो भक्त अपने मनमें यह सोचकर भगवान्‌पर निर्भर होना चाहता है कि 'भगवान्‌पर निर्भर करके उनका चिन्तन करनेसे मेरा योगक्षेम उत्तम-से-उत्तम होगा' वह वास्तवमें न तो अनन्य है और न अनन्यचित्तसे चिन्तन ही करता है। बात तो यथार्थमें यह है कि ऐसे निर्भर और अनन्य भक्तके मनमें भगवान्‌के सिवा और कुछ होता ही नहीं; वह भगवान्‌पर निर्भर रहकर भगवान्‌का चिन्तन

करनेके लिये ही भगवान्‌पर निर्भर करके भगवान्‌का चिन्तन करता है। उसके मनमें लौकिककी तो बात ही क्या, पारमार्थिक 'योगक्षेम' की चिन्ताके लिये भी गुंजाइश नहीं होती। वह इस बातको भी नहीं जानता कि 'मुझे किस साधनपथसे चलना चाहिये, और मैं कब अपने लक्ष्यको प्राप्त करूँगा।' उसके लिये कौन-सा साधन उत्तम है, किस बातमें उसका कल्याण है—इस बातको भगवान् ही सोचते हैं। उसके कल्याणका स्वयं अपने (भगवान्‌के) मनसे निश्चित किया हुआ साधन भगवान् ही उससे करवाते हैं, भगवान् ही उसके द्वारा प्राप्त साधन-सम्पत्तिकी रक्षा करते हैं और भगवान् ही उसके साधनके लक्ष्यको स्वयं वहन करके उसके समीप पहुँचा देते हैं। साधन और सिद्धि दोनोंका भार भगवान् अपने ऊपर ले लेते हैं। इसीसे ऐसा कहा जाता है कि भगवान्‌पर निर्भर करनेवाला भक्त जिस प्रकार अनायास अतिशीघ्र भगवान्‌को प्राप्त करता है, उस प्रकार दूसरा कोई भी प्राप्त नहीं कर सकता। इसमें एक विशेषता और है—वह यह कि ऐसा निर्भर भक्त सच्चिदानन्दघन, निष्कल, निष्क्रिय, निर्विकार, निरञ्जन, निर्गुण, सनातन, अव्यक्त और सर्वव्यापी, सर्वाधार, सर्वाश्रय, सर्वेश्वर, सर्वगुणसम्पन्न, सर्वैश्वर्यशाली भगवान्‌को अपने परम प्रेमास्पद नित्य जीवन-सहचर और परम आत्मीय सुहृद्‌के रूपमें प्राप्त करता है। परंतु इस प्रकार निर्भर करनेसे भगवत्-प्राप्ति शीघ्र होगी, ऐसी शुभ भावना उसके मनमें नहीं होती। वह तो इससे भी ऊँचा उठकर केवल भगवान्‌पर ही निर्भर रहता है; क्योंकि यह निर्भरतापूर्ण भगवच्चिन्तन ही ऐसे भक्तके अस्तित्वका आधार होता है। फिर उसे किसी अन्य वस्तुके

योगक्षेमकी चिन्ता कैसे हो सकती है। यह निर्भरा भक्तिकी ऊँची अवस्था है; परंतु इसमें भी भगवत्प्राप्तिकी शुभ वासना छिपी है, जो सर्वथा कल्याणकारिणी और परम वाञ्छनीय होनेपर भी निर्भर भक्तकी निर्भरतामें कुछ कमीका अनुभव कराती है।

इसके बादकी वह अवस्था है, जिसमें भक्त भगवच्चिन्तनरूपी क्रिया भी अपने अहंकारसे प्रेरित होकर नहीं करता। वस्तुतः वह स्वयं कुछ करता ही नहीं, भगवान् ही उसके द्वारा सब कुछ करते-कराते हैं। वह तो केवल उनके हाथकी कठपुतली मात्र होता है। जैसे जड कठपुतलीको नट अपने इच्छानुसार इशारेपर नचाता है, वह कहीं कुछ भी नहीं बोलती, उसी प्रकार निर्भर भक्त यन्त्री भगवान्को सब कुछ समर्पण करके यन्त्रवत् उनके इशारेपर नाचता रहता है। वह अपने लिये किसी वस्तुकी या कार्यकी कोई आवश्यकता ही नहीं समझता, वस्तुतः अपना भी उसे कोई पता नहीं रहता; क्योंकि वह तो अपनेको उनके हाथका यन्त्र बनाकर अपनेपनको पहले ही खो चुकता है। भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥

(गीता ३। ३०)

'तुम सब कर्मोंका अध्यात्मचित्तसे मुझमें संन्यास (भलीभाँति निक्षेप) करके आशा-ममताको छोड़कर और संतापसे मुक्त होकर युद्ध करो।' 'न्यास' का अर्थ है निक्षेप यानी डाल देना। कोई वस्तु—कोई काम, किसी दूसरी वस्तुपर या किसी दूसरे पुरुषपर

छोड़ देनेका नाम न्यास है। न्यास निक्षेपका ही पर्याय है। 'निक्षेपापरपर्यायो न्यासः।' न्यासके साथ 'सं' उपसर्ग लगानेसे उसका अर्थ होता है—'भलीभाँति छोड़ देना।' भगवान् कहते हैं कि 'तुम न युद्धमें विजयी होनेकी आशा करो, न राज्यमें, न युद्धस्थलमें उपस्थित बन्धु-बान्धवोंमें और न अपने शरीरमें ही ममता रक्खो, और न बन्धुवध और पराजयरूप प्रतिकूल फल आदिके कारण मनस्तापको प्राप्त होओ। आसक्ति होगी तो विजयकी आशा रहेगी, अहंभाव होगा तो उसके फलस्वरूप ममता होगी और द्वेष होगा तो मनस्ताप होगा। तुम अहंकार और राग-द्वेषसे सर्वथा मुक्त होकर—यह समझकर कि मैं कुछ भी नहीं करता, मैं तो भगवान्के शरण हूँ, वे यन्त्री भगवान् ही मुझसे यन्त्रवत् जो कुछ कराना चाहते हैं, वही किया जाता है, इस प्रकार मुझमें सब कर्मोंका भलीभाँति त्याग करके युद्ध करो। तुम्हारे अंदर न अज्ञान रहे और न अज्ञानके कार्यरूप अहंकार, राग, द्वेष, ममता, आशा और संताप आदि ही रहें। तुम बस, मेरे हाथकी कठपुतली बनकर मेरे इशारेपर मैं जो कराऊँ, सो करते रहो।' यह 'न्यासयोग' ही आगे चलकर निर्भरा भक्ति हो जाता है। इसमें भक्तका समस्त भार उसके भगवान्पर रहता है; परंतु भक्त भी इतना परतन्त्र हो जाता है कि वह कर्म या कर्मफलकी तो बात ही क्या, अपने अस्तित्वतकके लिये भी भगवान्पर ही निर्भर करता है। जैसे दिनका अस्तित्व सूर्यपर, या जीवनका अस्तित्व प्राणोंपर निर्भर है, उसी प्रकार ऐसे भक्तका जीवन अपने परमाधार भगवान्पर निर्भर करता है। उसका आत्मा, प्राण, मन, धन, जीवन, परिवार, सम्पत्ति, लोक, परलोक, भोग और मोक्ष

—सब कुछ एकमात्र भगवान् ही होते हैं। भगवान् भी ऐसे भक्तके परतन्त्र होते हैं। वे भी उसके नचाये नाचते हैं। भगवान् स्वयं कहते हैं—

> अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
> साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥
> मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः।
> वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥
>
> (श्रीमद्भा० ९।४।६३, ६६)

'हे द्विज! मैं भक्तके पराधीन हूँ, स्वतन्त्रकी तरह कुछ नहीं कर सकता। भक्तोंके प्रेमने मेरे हृदयको सर्वथा अपने अधीन कर लिया है, वे भक्त मुझे बहुत ही प्यारे हैं। मुझमें अपने हृदयको सदाके लिये बाँध देनेवाले (मेरे ही इशारेपर सब कर्म करनेवाले) समदृष्टि साधु पुरुष मुझको अपनी भक्तिसे वैसे ही वशमें कर लेते हैं, जैसे पतिव्रता स्त्री अपने सदाचारी पतिको वशमें कर लेती है।' धन्य है! परंतु भक्त कभी यह कल्पना भी नहीं करता कि भगवान् मेरे अधीन हैं। वह तो अपनेको सम्पूर्णरूपेण समर्पण करके अन्य किसी कल्पनाके लिये अपने अंदर गुंजाइश ही नहीं रहने देता।

ऐसा निर्भर भक्त कुछ भी कर्म नहीं करता, ऐसी बात नहीं है। वह अपने लिये कुछ भी नहीं करता, और न अपने लिये किसी कर्मका त्याग ही करता है। भगवान् जब जो कुछ कराते हैं, वह उसीको करता है; चाहे वह कर्मका ग्रहण हो या त्याग, क्रूर कर्म हो या सौम्य कर्म, सृजन हो या संहार। जब भगवान् खूब कर्म कराते हैं, तब वह खूब करता है, जब थोड़ा कराते हैं, तब

थोड़ा करता है और जब बिल्कुल नहीं कराते, तब बिल्कुल नहीं करता। उसे न तो करनेसे मतलब है और न नहीं करनेसे ही। वह दोनों ही अवस्थामें अपनी स्थितिमें अविचल स्थित रहता है।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि ऐसे भक्तका सांसारिक योगक्षेम कैसे चलता है। इसका सीधा उत्तर यही है कि भगवान् चलाते हैं। वैसे ही चलता है। इसमें कोई खास नियम नहीं है कि ऐसा भक्त लौकिक दृष्टिसे वर्णाश्रमानुसार धन, जन, मान, यश आदिसे सम्पन्न हो, या इनसे सर्वथा हीन हो। दोनों ही तरहके उदाहरण मिलते हैं। इतनी बात अवश्य है कि उसका सारा भार भगवान्पर चला जानेसे न तो उससे कोई निषिद्ध कर्म हो सकता है और न उसे कोई अकल्याणकारी भोग्य-पदार्थ ही वस्तुतः मिल सकता है। जिसका 'योगक्षेम' भगवान् स्वयं देखते हों, उसके लिये ऐसी कोई स्थिति तो हो ही नहीं सकती कि जिसमें उसके लिये परिणाममें किसी अमङ्गलकी जरा भी सम्भावना हो। हाँ, रहस्यको न समझनेवाले लोग मूर्खतावश मङ्गलमें अमङ्गलकी कल्पना कर सकते हैं। बच्चा साँप पकड़ने दौड़ता है, जलती आगमें हाथ डालना चाहता है, माँ लपककर उसे रोक देती है, नहीं मानता तो स्नेहवश उसे डाँट भी देती है; बच्चेको मनचाही वस्तु न मिलनेसे दुःख होता है, वह समझ सकता है कि मेरा बड़ा अमङ्गल हो गया, मुझे मनचाही चीज नहीं मिली। इसी प्रकार हम अल्पज्ञ अपनी तुच्छ बुद्धिसे जिसमें अपना मङ्गल समझते हैं, सम्भव है सर्वज्ञ भगवान्की बुद्धिमें उसके परिणाममें हमारा घोर अमङ्गल हो। हम जिसके संयोगमें सुख और वियोगमें महान् दुःखकी प्राप्ति समझते हैं, सम्भव है भगवान्

अपनी यथार्थ दृष्टिसे उस संयोगसुखको भीषण दुःखकी और वियोग-वेदनाको महान् सुखकी भूमिका समझते हों और हमें हमारा मनमाना फल न देकर हमारे मङ्गलके लिये अपना मनमाना फल देते हों और ऐसा होनेमें हम मूर्खतावश अपना अमङ्गल मानते हों। जो भगवान्पर निर्भर करनेवाले भक्त हैं, वे तो ऐसा नहीं मान सकते। परंतु उनकी रहस्यमयी स्थितिको अपनी विषय-विभ्रमरत, मोहावृत बुद्धिके तराजूपर तौलनेवाले लोग उनमें अमङ्गल मान सकते हैं। अवश्य ही उनके माननेसे भक्तोंकी स्थितिमें जरा भी अन्तर नहीं आता। वे भक्त कितने धन्य और सुखी हैं, जिनके कल्याणकी और कल्याणकारी साधनोंके संग्रहकी व्यवस्था सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान् और परम सुहृद् भगवान् स्वयं करते हैं!

इन सब बातोंपर विचार करनेसे यही निष्कर्ष निकलता है कि भगवान्की निर्भरा भक्ति बहुत ही उपयोगी और शीघ्र कल्याणप्रदा है। भगवान्पर विश्वास करके पहले निर्भरताकी भावना करनी चाहिये और भगवान्की कृपाप्राप्तिके लिये भगवान्का नित्य अनन्य और निष्काम चिन्तन करते हुए भगवान्पर पूर्ण निर्भर होनेका यत्न करते रहना चाहिये। इस साधनमें प्रधान चार बातें हैं—१ दृढ विश्वास, २ संसारी चिन्ताओंका सर्वथा त्याग, ३ अनुकूल आचरण और ४ अनन्य चिन्तन। भक्त वृत्रासुरके इन शब्दोंके अनुसार भगवान्से सदा प्रार्थना कीजिये—

अहं हरे तव पादैकमूल-
दासानुदासो भवितास्मि भूयः।

मनः स्मरेतासुपतेर्गुणांस्ते
गृणीत वाक्कर्म करोतु कायः॥
न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे॥
अजातपक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥

'हे भगवन्! तुम्हारे चरण ही जिनका मुख्य आश्रय हैं, मैं पुनः तुम्हारे उन दासोंका भी दास बनना चाहता हूँ। मेरा मन सदा तुम प्राणाधारके गुणोंका स्मरण करे, मेरी वाणी तुम्हारा नामगुण-कीर्तन करे और शरीर सदा तुम्हारी सेवारूपी कर्ममें लगा रहे। तुम प्रियतमको छोड़कर मुझको स्वर्ग, ब्रह्माका पद, सार्वभौम साम्राज्य, पातालका राज्य, योगकी दुर्लभ सिद्धियाँ और कैवल्य-मोक्ष भी नहीं चाहिये। हे कमलनयन! जिनके पाँख नहीं उगे हैं, ऐसे पक्षियोंके बच्चे जैसी अदम्य उत्सुकतासे माँकी बाट देखा करते हैं, भूखे बछड़े जैसे वनमें गयी हुई गायका स्तनपान करनेके लिये छटपटाते हैं और परदेश गये हुए स्वामीकी प्रियतमा पत्नी जैसे पतिको आँखोंसे देखनेके लिये व्याकुल रहती है, वैसे ही मैं भी तुमको देखनेके लिये व्याकुल हो रहा हूँ!'

वर्णाश्रमधर्म और ब्राह्मण

हिंदू-सनातनधर्मका लक्ष्य और साधन

हिंदू-सनातन-धर्मके अनुसार मनुष्यदेहका चरम लक्ष्य 'परम कल्याणरूप परमात्मा' को प्राप्त करना है। सनातन-धर्मकी प्रत्येक चेष्टा इसी लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये है। परंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि वर्तमान जीवनसे या इहलोककी ओरसे सनातनधर्म उदासीन है। ऋषियोंने धर्मका लक्षण बतलाते हुए कहा है कि जिससे (इस लोकमें) अभ्युदय और (परलोकमें) परम कल्याणकी सिद्धि हो, वह धर्म है—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ।

(वै० द० २)

अभ्युदय सब प्रकारसे हो,—शरीर स्वस्थ और व्यसनहीन हो, मन सरल और शुद्ध हो, आचरण पवित्र हो, बुद्धि निर्मल और स्थिर हो, गृह आवश्यक धन-धान्यसे पूर्ण हो, कुल-शील-मान—सभी यथायोग्य शुद्ध और सराहनीय हों। यह सब होते हुए ही जीवनका लक्ष्य भगवत्प्राप्ति रहे, और क्रमशः लक्ष्यकी ओर बढ़ते-बढ़ते अधिकार और योग्यतानुसार प्राप्त त्यागके द्वारा परिणाममें 'परम कल्याणरूप

भगवान्' की प्राप्ति हो जाय। इस प्रकार जीवके जीवनप्रवाहकी अनादिकालीन धाराका परब्रह्मरूप महासागरमें सदाके लिये विलीन हो जाना ही मनुष्य-जीवनका उद्देश्य है। इस उद्देश्यकी सुचारुरूपसे सिद्धि होनेके लिये धर्मके दो विभाग किये गये—एक वर्णधर्म और दूसरा आश्रमधर्म। वर्णधर्म समाज-जीवनका सुन्दर संगठन करके उसकी भलीभाँति रक्षा करता है और आश्रमधर्म व्यक्तिगत जीवनको धर्मके पवित्र आदर्शपर प्रतिष्ठित करके उसकी सुव्यवस्था करता है और उसको सामाजिक संगठनमें एवं पारिवारिक सुव्यवस्थामें सहायक बनाकर अर्थात् लौकिक अभ्युदयमें स्वाभाविक ही अग्रसर करता हुआ क्रमशः चरम लक्ष्य निःश्रेयस—परब्रह्मकी ओर ले जाता है। इन दोनों धर्मोंका परस्पर अङ्गाङ्गिभावसे घनिष्ठ सम्बन्ध होनेके कारण ही इनका एक नाम 'वर्णाश्रमधर्म' है। हिंदूधर्मका तत्त्व समझनेके लिये वर्णाश्रमधर्मका तत्त्व समझना आवश्यक है। वास्तवमें यह वर्णाश्रमधर्म ही हिंदूधर्म है। हिंदूका व्यक्तिगत व्यवहार, उसकी समाज-नीति, उसकी अर्थनीति, उसकी राजनीति, उसकी परमार्थनीति—सभी इसी वर्णाश्रमधर्मपर प्रतिष्ठित हैं। सच पूछा जाय तो शताब्दियोंसे लगातार आक्रमण-पर-आक्रमण सहकर भी आज जो हिंदूजाति जीवित है, इसका प्रधान कारण यह वर्णाश्रमका सुदृढ़ दुर्ग ही है। इस बातको याद रखना चाहिये कि इस वर्णाश्रमधर्मकी रक्षा ही हिंदू-धर्मकी रक्षा है, और वर्णाश्रमधर्मका विनाश ही हिंदूधर्मका विनाश है।

अँगरेजीके 'रिलिजन' (Religion) शब्दसे हमारे इस व्यापक धर्मका बोध नहीं होता। 'रिलिजन' का अर्थ सामाजिक और

व्यक्तिगत कुछ खास-खास विश्वासों और उपासनापद्धतियोंतक ही सीमित है। परंतु वर्णधर्म तो व्यष्टि और समष्टिरूपमें समस्त मनुष्यजीवनके प्रत्येक क्षणको और उसकी प्रत्येक चेष्टाको कल्याणके साथ गूँथकर उत्तरोत्तर अभ्युदय और निःश्रेयस—भगवत्प्राप्तिकी ओर ले जाता है। 'रिलिजन' इस व्यापक वर्णाश्रमरूप महान् शरीरका एक अङ्गमात्र है।

वर्णाश्रम

आश्रमधर्मका मूल वर्णधर्म है, और यह वर्णधर्म भगवान्‌के द्वारा रचित है। स्वयं भगवान्‌ने कहा है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

'गुण और कर्मोंके विभागसे चारों वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) मेरे ही द्वारा रचे हुए हैं।' भारतके दिव्यदृष्टिप्राप्त त्रिकालज्ञ महर्षियोंने इस सत्यको प्रत्यक्षरूपसे प्राप्त किया और इसी सत्यपर समाजका निर्माण करके उसे सुव्यवस्थित, शान्ति-शीलमय, सुखी, कर्मप्रवण, स्वार्थदृष्टिशून्य और सुरक्षित बना दिया। सामाजिक सुव्यवस्थाके लिये मनुष्योंके चार विभागकी सभी देशों और सभी कालोंमें आवश्यकता हुई है, और सभीमें चार विभाग रहे और रहते भी हैं; परंतु इस ऋषियोंके देशमें वे जिस सुव्यवस्थितरूपसे रहे, वैसे कहीं नहीं रहे।

अब इन चार विभागोंकी उपयोगितापर थोड़ा विचार कीजिये। समाजमें धर्मकी स्थापना और रक्षाके लिये और समाज-जीवनको सुखी बनाये रखनेके लिये, जहाँ समाजकी जीवन-पद्धतिमें कोई बाधा

उपस्थित हो, वहाँ प्रयत्नके द्वारा उस बाधाको दूर करनेके लिये; धर्मप्रवाहके भँवरको मिटानेके लिये, उलझनोंको सुलझानेके लिये और धर्मसंकट उपस्थित होनेपर समुचित व्यवस्था देनेके लिये परिष्कृत और निर्मल मस्तिष्ककी आवश्यकता है। धर्मकी और धर्ममें स्थित समाजकी भौतिक आक्रमणोंसे रक्षा करनेके लिये बाहुबलकी आवश्यकता है। मस्तिष्क और बाहुका यथायोग्य रीतिसे पोषण करनेके लिये धनकी और अन्नकी आवश्यकता है। और उपर्युक्त कर्मोंको यथायोग्य सम्पन्न करानेके लिये शारीरिक परिश्रमकी आवश्यकता है।

इसीलिये मनुष्य-समाज-जीवनका मस्तिष्क 'ब्राह्मण' है, बाहु क्षत्रिय है, ऊरु वैश्य है और चरण शूद्र है। ये चारों एक ही समाज-शरीरके चार अत्यावश्यक अङ्ग हैं और एक दूसरेकी सहायतापर सुरक्षित और जीवित हैं। घृणा या अपमानकी तो बात ही क्या है, इनमेंसे किसीकी तनिक भी अवहेलना नहीं की जा सकती। न इनमें नीच-ऊँचकी ही कल्पना करनी चाहिये। अपने-अपने स्थान और कार्यके अनुसार चारों ही बड़े हैं। ब्राह्मण ज्ञानबलसे, क्षत्रिय बाहुबलसे, वैश्य धनबलसे और शूद्र जनबलसे बड़ा है—और चारोंकी ही पूर्ण उपयोगिता है। इनकी उत्पत्ति भी एक ही भगवान्‌के शरीरसे हुई है। ब्राह्मणकी उत्पत्ति भगवान्‌के श्रीमुखसे, क्षत्रियकी बाहुसे, वैश्यकी ऊरुसे और शूद्रकी चरणोंसे हुई है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत॥

परंतु इनका यह अपना-अपना बल न तो स्वार्थसिद्धिके लिये है और न किसी दूसरेको दबाकर स्वयं ऊँचा बननेके लिये ही है। समाज-शरीरके आवश्यक अङ्गोंके रूपमें इनका योग्यतानुसार कर्मविभाग है। और यह है केवल धर्मके पालने-पलवानेके लिये ही। ऊँच-नीचका भाव न होकर यथायोग्य कर्मविभाग होनेके कारण ही चारों वर्णोंमें एक शक्ति-सामञ्जस्य (Balance of Power) रहता है। कोई भी किसीकी न अवहेलना कर सकता है, न किसीके न्याय्य अधिकारपर आघात कर सकता है। इस कर्मविभाग और कर्माधिकारके सुदृढ आधारपर रचित यह वर्णधर्म ऐसा सुव्यवस्थित है कि इसमें शक्ति-सामञ्जस्य अपने-आप ही रहता है। इसपर फिर ऋषियोंने प्रत्येक वर्णके कर्मोंका अलग-अलग स्पष्ट निर्देश करके तो सबको अपने-अपने धर्मका निर्विघ्न पालन करनेके लिये और भी सुविधा कर दी है और स्वकर्मका पूरा पालन होनेसे शक्ति-सामञ्जस्यमें कभी बाधा आ ही नहीं सकती।

यूरोपादि देशोंमें स्वाभाविक ही मनुष्य-समाजके चार विभाग रहनेपर भी निर्दिष्ट नियम न होनेके कारण शक्ति-सामञ्जस्य नहीं है। इसीसे कभी ज्ञानबल सैनिक बलको दबाता है और कभी जनबल धनबलको परास्त करता है। भारतीय वर्णविभागमें ऐसा न होकर सबके लिये पृथक्-पृथक् कर्म निर्दिष्ट हैं।

ब्राह्मण

ऋषिसेवित वर्णधर्ममें ब्राह्मणका पद सबसे ऊँचा है; वह समाजके धर्मका निर्माता है, उसीकी बनायी हुई विधिको सब मानते हैं। वह सबका गुरु और पथप्रदर्शक है; परंतु वह धन-

संग्रह नहीं करता, न दण्ड ही देता है, न भोगविलासमें ही रुचि रखता है। स्वार्थ तो मानो उसके जीवनमें है ही नहीं। धनैश्वर्य और पदगौरवको धूलके समान समझकर वह फल-मूलोंपर निर्वाह करता हुआ सपरिवार शहरसे दूर वनमें रहता है। दिन-रात तपस्या, धर्मसाधन और ज्ञानार्जनमें लगा रहता है, अपने तपोबलके प्रभावसे दुर्लभ ज्ञाननेत्र प्राप्त करता है और उस ज्ञानकी दिव्यज्योतिसे सत्यका दर्शन करके उस सत्यको बिना किसी स्वार्थके सदाचारपरायण साधुस्वभाव पुरुषोंके द्वारा समाजमें वितरण कर देता है। बदलेमें कुछ भी चाहता नहीं। समाज अपनी इच्छासे जो कुछ दे देता है या भिक्षासे जो कुछ मिल जाता है, उसीपर वह बड़ी सादगीसे अपनी जीवनयात्रा चलाता है। उसके जीवनका यही धर्ममय आदर्श है।

क्षत्रिय

क्षत्रिय सबपर शासन करता है। अपराधीको दण्ड और सदाचारीको पुरस्कार देता है। दण्डबलसे दुष्टोंको सिर नहीं उठाने देता और धर्मकी तथा समाजकी दुराचारियों, चोरों, डाकुओं और शत्रुओंसे रक्षा करता है। क्षत्रिय दण्ड देता है, परंतु कानूनकी रचना स्वयं नहीं करता। ब्राह्मणके बनाये हुए कानूनके अनुसार ही वह आचरण करता है। ब्राह्मणरचित कानूनके अनुसार ही वह प्रजासे कर वसूल करता है और उसी कानूनके अनुसार प्रजाहितके लिये व्यवस्थापूर्वक उसे व्यय कर देता है। कानूनकी रचना ब्राह्मण करता है और धनका भंडार वैश्यके पास है। क्षत्रिय तो केवल विधिके अनुसार व्यवस्थापक और संरक्षकमात्र है।

वैश्य

धनका मूल वाणिज्य, पशु और अन्न—सब वैश्यके हाथमें है। वैश्य धन उपार्जन करता है और उसको बढ़ाता है, किंतु अपने लिये नहीं। वह ब्राह्मणके ज्ञान और क्षत्रियके बलसे संरक्षित होकर धनको सब वर्णोंके हितमें उसी विधानके अनुसार व्यय करता है। न शासनपर उसका कोई अधिकार है और न उसे आवश्यकता ही है; क्योंकि ब्राह्मण और क्षत्रिय उसके वाणिज्यमें कभी कोई हस्तक्षेप नहीं करते, स्वार्थवश उसका धन कभी नहीं लेते, वरं उसकी रक्षा करते हैं और अपने ज्ञानबल और बाहुबलसे ऐसी सुव्यवस्था करते हैं कि जिससे वह अपना व्यापार सुचारुरूपसे निर्विघ्न चला सकता है। इससे उसके मनमें कोई असंतोष नहीं है और वह प्रसन्नताके साथ ब्राह्मण और क्षत्रियका प्राधान्य मानकर चलता है और मानना आवश्यक भी समझता है; क्योंकि इसीमें उसका हित है। वह खुशीसे राजाको कर देता है, ब्राह्मणकी सेवा करता है और विधिवत् आदरपूर्वक शूद्रको भरपूर अन्न-वस्त्रादि देता है।

शूद्र

अब रहा शूद्र। शूद्र स्वाभाविक ही जनसंख्यामें अधिक है। शूद्रमें शारीरिक शक्ति प्रबल है, परंतु मानसिक शक्ति कुछ कम है। अतएव शारीरिक श्रम ही उसके हिस्सेमें रक्खा गया है। और समाजके लिये शारीरिक शक्तिकी बड़ी आवश्यकता भी है। परंतु उसकी शारीरिक शक्तिका मूल्य किसीसे कम नहीं है। शूद्रके

जनबलके ऊपर ही तीनों वर्णोंकी प्रतिष्ठा है। यही आधार है। पैरके बलपर ही शरीर चलता है। अतएव शूद्रको तीनों वर्ण अपना प्रिय अङ्ग मानते हैं। उसके श्रमके बदलेमें वैश्य प्रचुर धन देता है, क्षत्रिय उसके धन-जनकी रक्षा करता है और ब्राह्मण उसको धर्मका—भगवत्प्राप्तिका मार्ग दिखाता है; न तो स्वार्थसिद्धिके लिये कोई वर्ण शूद्रकी वृत्ति हरण करता है, न स्वार्थवश उसे कम वेतन देता है और न उसे अपनेसे नीचा मानकर किसी प्रकारका दुर्व्यवहार ही करता है। सब अपनी उन्नतिके साथ उसकी उन्नति करते हैं और उसकी उन्नतिमें अपनी उन्नति और अवनतिमें अपनी अवनति समझते हैं। ऐसी अवस्थामें जनबलयुक्त शूद्र संतुष्ट रहता है।

परस्पर सहयोग

चारोंमें कोई किसीसे ठगा नहीं जाता, कोई किसीसे अपमानित नहीं होता। एक ही घरके चार भाइयोंकी तरह एक ही घरकी सम्मिलित उन्नतिके लिये चारों भाई अपने-अपने पृथक्-पृथक् आवश्यक कर्तव्यपालनमें लगे रहते हैं। यों चारों वर्ण परस्पर— ब्राह्मण धर्मस्थापनके द्वारा, क्षत्रिय बाहुबलके द्वारा, वैश्य धनबलके द्वारा और शूद्र शारीरिक श्रमबलके द्वारा एक दूसरेकी सेवा करते हुए समाजकी शक्ति बढ़ाते हैं। न तो सब एक-सा कर्म करना चाहते हैं और न अलग-अलग कर्म करनेमें कोई ऊँच-नीच भाव ही मनमें लाते हैं। इसीसे उनका शक्ति-सामञ्जस्य (Balance of Power) रहता है और धर्म उत्तरोत्तर बलवान् और पुष्ट होता है। यह है वर्णधर्मका स्वरूप।

जन्म और कर्मसे वर्ण

इस प्रकार गुण और कर्मके विभागसे ही वर्णविभाग बनता है। परंतु इसका अर्थ यह नहीं कि मनमाने कर्मसे वर्ण बदल जाता है। वर्णका मूल जन्म है और कर्म उसके स्वरूपकी रक्षामें प्रधान कारण है। इस प्रकार जन्म और कर्म दोनों ही वर्णमें आवश्यक हैं। केवल कर्मसे वर्णको माननेवाले वस्तुतः वर्णको मानते ही नहीं। वर्ण यदि कर्मपर ही माना जाय, तब तो एक दिनमें एक ही मनुष्यको न मालूम कितनी बार वर्ण बदलना पड़ेगा। फिर तो समाजमें कोई शृङ्खला या नियम ही नहीं रहेगा। सर्वथा अव्यवस्था फैल जायगी। परंतु भारतीय वर्णधर्ममें ऐसी बात नहीं है। यदि केवल कर्मसे वर्ण माना जाता तो महाभारत-युद्धके समय ब्राह्मणोचित कर्म करनेको तैयार हुए अर्जुनको क्षत्रियधर्मका उपदेश गीतामें भगवान् नहीं करते। मनुष्यके पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार ही उसका विभिन्न वर्णोंमें जन्म हुआ करता है।

स्वधर्म

जिसका जिस वर्णमें जन्म होता है, उसको उसी वर्णके निर्दिष्ट कर्मोंका आचरण करना चाहिये; क्योंकि वही उसका 'स्वधर्म' है। और स्वधर्मका पालन करते-करते मर जाना भगवान् श्रीकृष्णने कल्याणकारक बतलाया है—'स्वधर्मे निधनं श्रेयः।' साथ ही परधर्मको 'भयावह' भी बतलाया है। यह ठीक ही है, क्योंकि सब वर्णोंके स्वधर्मपालनसे ही सामाजिक शक्ति-सामञ्जस्य रहता है और तभी समाज-धर्मकी रक्षा और उन्नति होती है। स्वधर्मका त्याग और परधर्मका ग्रहण व्यक्ति और समाज दोनोंके लिये ही हानिकर

है। खेदकी बात है कि आजकल वर्णधर्मके प्रति हमलोगोंकी आस्था कम हो रही है और हमलोग मनमाना आचरण करनेमें जरा भी नहीं हिचकते। इसका बुरा परिणाम भी हाथोंहाथ प्रत्यक्ष हो रहा है। इस बुराईसे बचनेके लिये हमें वर्णधर्मके पालनकी अत्यन्त आवश्यकता है।

ब्राह्मणका महत्त्व

वर्णधर्ममें शीर्ष-स्थानीय है ब्राह्मण। दुःखका विषय है कि आज ब्राह्मणके विनाशके लिये भी चारों ओर परोक्ष और अपरोक्षरूपसे चेष्टा हो रही है!! शास्त्रोंने ब्राह्मणकी बड़ी ही महिमा गायी है। शास्त्र कहते हैं कि ब्राह्मणकी उत्पत्ति विराट् पुरुषके या भगवान् श्रीकृष्णके मुखसे हुई है। मनु महाराजका कहना है—

उत्तमाङ्गोद्भवाज्ज्यैष्ठ्याद् ब्रह्मणश्चैव धारणात्।
सर्वस्यैवास्य सर्गस्य धर्मतो ब्राह्मणः प्रभुः॥
तं हि स्वयंभूः स्वादास्यात्तपस्तप्त्वाऽऽदितोऽसृजत्।
हव्यकव्याभिवाहाय सर्वस्यास्य च गुप्तये॥
यस्यास्येन सदाश्नन्ति हव्यानि त्रिदिवौकसः।
कव्यानि चैव पितरः किं भूतमधिकं ततः॥
भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः।
बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः॥
ब्राह्मणेषु च विद्वांसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः।
कृतबुद्धिषु कर्तारः कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः॥
उत्पत्तिरेव विप्रस्य मूर्तिर्धर्मस्य शाश्वती।
स हि धर्मार्थमुत्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामधिजायते।
ईश्वरः सर्वभूतानां धर्मकोशस्य गुप्तये॥

सर्वस्वं ब्राह्मणस्येदं यत् किञ्चिज्जगतीगतम्।
श्रैष्ठ्येनाभिजनेनेदं सर्वं वै ब्राह्मणोऽर्हति॥

(मनुस्मृति १। ९३—१००)

परमात्माके सब अङ्गोंमें उत्तम अङ्ग मुखसे ब्राह्मण उत्पन्न हुआ है, सबसे पहले जन्मा है, वेदको धारण करता है। इसलिये धर्मका अनुशासन करनेमें ब्राह्मण ही सारी सृष्टिका प्रभु है। देवताओंको हव्य और पितरोंको कव्यकी प्राप्ति होगी और उससे सम्पूर्ण जगत्‌की रक्षा होगी, इस उद्देश्यसे स्वयम्भू ब्रह्माने तप करके सबसे पहले अपने मुखसे ब्राह्मणकी सृष्टि की। जिनके मुखसे देवता सदा हव्य (हवनीय सामग्री) तथा पितर कव्य (श्राद्धादिमें दिये हुए अन्नादि) ग्रहण करते हैं—खाते हैं, उन ब्राह्मणोंसे बढ़कर श्रेष्ठ भला, और कौन हो सकता है? सृष्ट पदार्थोंमें स्थावरोंकी अपेक्षा प्राणधारी श्रेष्ठ हैं, प्राणियोंमें बुद्धिपूर्वक जीवन चलानेवाले श्रेष्ठ हैं, बुद्धिजीवियोंमें मनुष्य श्रेष्ठ है और मनुष्योंमें ब्राह्मण सबसे श्रेष्ठ हैं। ब्राह्मणोंमें विद्वान्, विद्वानोंमें शास्त्रानुसार कर्मोंको जाननेवाले और जाननेवालोंमें करनेवाले श्रेष्ठ हैं। इनसे भी वे श्रेष्ठ हैं, जो ब्रह्मको जानते हैं। ब्राह्मणके शरीरकी उत्पत्ति ही धर्मकी सनातन मूर्तिमान् अवस्था है। वह धर्मके आचरण और मोक्षकी प्राप्तिके लिये ही उत्पन्न होता है। ब्राह्मण धर्मके खजानेकी रक्षाके लिये जन्मसे ही पृथ्वीमें सबके ऊपर स्वामी होकर उत्पन्न होता है और सब प्राणियोंका प्रभु माना जाता है। तीनों लोकोंमें जो कुछ भी सम्पत्ति है, वह सब ब्राह्मणकी है। परमात्माके मुखसे जन्म ग्रहण करने तथा सबसे श्रेष्ठ होनेके कारण ब्राह्मण ही सब पदार्थोंको ग्रहण करने योग्य है।

भीष्मपितामह धर्मराज युधिष्ठिरसे कहते हैं—

पितॄणां देवतानां च मनुष्योरगरक्षसाम् ।
पुराप्येते महाभागा ब्राह्मणा वै जनाधिप ॥

(महा० अनु० ३३ । १५)

हे राजन् ! महाभाग ब्राह्मण पूर्वकालसे ही पितरोंके, देवताओंके, मनुष्योंके, सर्पोंके और राक्षसोंके पूज्य हैं ।

परिवादं च ये कुर्युर्ब्राह्मणानामचेतसः ।
सत्यं ब्रवीमि ते राजन् विनश्येयुर्न संशयः ॥

(महा० अनु० ३३ । १८)

हे राजन् ! जो मूर्ख मनुष्य ब्राह्मणोंकी निन्दा करते हैं, मैं सत्य कहता हूँ कि वे नष्ट हो जाते हैं; इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ।

श्रेयान् पराजयस्तेभ्यो न जयो जयतां वर ॥

(म० अ० ३३ । २३)

हे महाविजयी ! ब्राह्मणोंसे हार जाना अच्छा है, परंतु उनको हराना अच्छा नहीं है ।

परिवादो द्विजातीनां न श्रोतव्यः कथञ्चन ।
आसीताधोमुखस्तूष्णीं समुत्थाय व्रजेच्च वा ॥
न स जातो जनिष्यद्वा पृथिव्यामिह कश्चन ।
यो ब्राह्मणविरोधेन सुखं जीवितुमुत्सहेत् ॥

(म० अ० ३३ । २५-२६)

ब्राह्मणोंकी निन्दा कभी नहीं सुननी चाहिये । यदि कहीं ब्राह्मण-निन्दा होती हो तो वहाँ या तो नीचा सिर करके चुपचाप बैठा रहे अथवा वहाँसे उठकर चला जाय । इस पृथ्वीपर ऐसा कोई भी मनुष्य नहीं जन्मा है और न जन्मेगा ही, जो ब्राह्मणोंसे विरोध करके सुखसे जीवन बितानेका उत्साह कर सके ।

ततो राष्ट्रस्य शान्तिर्हि भूतानामिव वासवात्।
जायतां ब्रह्मवर्चस्वी राष्ट्रे वै ब्राह्मणः शुचिः॥
(म० अ० ३४।३)

प्राणी जैसे मेघके देवता इन्द्रसे शान्ति पाते हैं, उसी प्रकार राष्ट्रको ब्राह्मणोंसे शान्ति मिलती है। अतएव तेरे देशमें ब्रह्मतेजस्वी और पवित्र ब्राह्मण उत्पन्न हों।

आगे चलकर पितामहने ब्राह्मण-सेवाका महत्त्व और ब्राह्मण-निन्दाका विस्तारसे वर्णन करते हुए अन्तमें युधिष्ठिरसे कहा है—

तान् पूजयस्व सततं दानेन परिचर्यया।
यदीच्छसि महीं भोक्तुमिमां सागरमेखलाम्॥
(म० अ० ३५।२२)

अतएव यदि तू इस सागररूप कटिमेखलावाली पृथ्वीपर सुखसे राज्य करना चाहता है तो सदा दान और सेवाके द्वारा ब्राह्मणोंकी पूजा किया कर!

श्रीमद्भागवतमें महाराज पृथु कहते हैं—

यत्सेवयाशेषगुहाशयः स्वराड्
विप्रप्रियस्तुष्यति काममीश्वरः।
तदेव तद्धर्मपरैर्विनीतैः
सर्वात्मना ब्रह्मकुलं निषेव्यताम्॥
(४।२१।३८)

जिन ब्राह्मणोंकी सेवासे ब्राह्मणोंके प्रेमी सर्वान्तर्यामी स्वप्रकाश भगवान् संतुष्ट होते हैं, भागवत-धर्ममें तत्पर तुम भी नम्रतापूर्वक शरीर, मन और वाणीसे उन ब्राह्मणोंके कुलकी सेवा करो।

स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण अपने पुत्र प्रद्युम्नसे कहते हैं—

ब्राह्मणप्रतिपूजायामायुः कीर्तिर्यशो बलम् ।
लोके लोकेश्वराश्चैव सर्वे ब्राह्मणपूजकाः ॥
त्रिवर्गे चापवर्गे च यशः श्रीरोगशान्तिषु ।
देवतापितृपूजासु संतोष्याश्चैव नो द्विजाः ॥
(महा० अनु० १५९ । ९-१०)

ब्राह्मणोंकी पूजा करनेसे आयु, कीर्ति, यश और बल बढ़ते हैं । इसीसे लोक और लोकेश्वर सभी ब्राह्मणोंकी पूजा करते हैं । धर्म, अर्थ, काम—इस त्रिवर्गको और मोक्षको प्राप्त करनेमें, यश, लक्ष्मीकी प्राप्ति और रोग-शान्तिमें तथा देवता और पितरोंकी पूजामें ब्राह्मणोंको संतुष्ट करना चाहिये ।

ब्राह्मण प्रसन्न होकर जो भी आशीर्वाद देते हैं, वही पूर्ण स्वस्त्ययन है । श्रीयशोदाजी महर्षि गर्गसे कहती हैं—

आशिषं कर्तुमर्हन्ति प्रसन्नमनसा शिशुम् ।
पूर्णं स्वस्त्ययनं सद्यो विप्राशीर्वचनं ध्रुवम् ॥
(ब्रह्मवैवर्त० श्रीकृष्ण-जन्मखण्ड अध्याय १२)

हे भगवन् ! आप प्रसन्न मनसे इस बालक (कृष्ण) को आशीर्वाद दीजिये । ब्राह्मणोंका आशीर्वाद निश्चय ही पूर्ण स्वस्त्ययनरूप तत्काल फल देनेवाला है । पूर्ण आध्यात्मिक ग्रन्थ गीतामें भी ब्राह्मणपूजाको तप बतलाया है ।

इस प्रकार ब्राह्मणोंके माहात्म्यसे शास्त्र भरे हैं, कितने वचन उद्धृत किये जायँ । परंतु यह स्मरण रखना चाहिये कि ब्राह्मणका यह महत्त्व बनावटी नहीं है । ब्राह्मणका स्वरूप ही महत्त्वपूर्ण है । उसका जीवन तपस्वी जीवन है । उसका जन्म ही तप, धर्म

तथा मोक्षके लिये होता है । सांसारिक सुख और भोगोंकी ओर तो ब्राह्मण देखता ही नहीं ।

ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते ।
कृच्छ्राय तपसे चेह प्रेत्यानन्तसुखाय च ॥
(श्रीमद्भा० ११ । १७ । ४२)

यह ब्राह्मणशरीर क्षुद्र विषयभोगोंके लिये नहीं है, यह तो जीवन-भर कठिन तपस्या और अन्तमें आत्यन्तिक सुखरूप मोक्षकी प्राप्तिके लिये है ।

इसीका मिलता-जुलता श्लोक बृहद्धर्मपुराणमें आया है—

ब्राह्मणस्य तु देहोऽयं न सुखाय कदाचन ।
तपः क्लेशाय धर्माय प्रेत्य मोक्षाय सर्वदा ॥
(उत्तरखण्ड २ । ४४)

ब्राह्मणका देह विषयसुखके लिये कदापि नहीं है; यह तो सदा-सर्वदा तपस्याका क्लेश सहने, धर्मका पालन करने और अन्तमें मुक्तिके लिये ही उत्पन्न होता है ।

ब्राह्मणके लक्षण

ब्राह्मणोंके लक्षणोंके सम्बन्धमें शास्त्र कहते हैं—शम, दम, तप, शौच, संतोष, क्षमा, कोमलता, भगवद्भक्ति, दया और सत्य ब्राह्मणके स्वाभाविक धर्म हैं (श्रीमद्भागवत ११ । १७ । १६) । शम, दम, तप, शौच, क्षमा, कोमलता, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिक-बुद्धि ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म हैं । (श्रीमद्भगवद्गीता १८ । ४२) । ब्राह्मणको जातकर्मादि संस्कारोंके द्वारा संस्कृत, परम पवित्र, वेदाध्ययन-में तत्पर, संध्यावन्दन[१], स्नान[२], जप[३], हवन[४], देवपूजा[५] और अतिथि[६]-सत्काररूप षट्कर्मपरायण, शौचाचारशील, ब्रह्मनिष्ठ, गुरुप्रिय और

सर्वदा सत्यमें रत रहना चाहिये (महाभारत) । जीवनभर आलस्य छोड़कर अपने-अपने आश्रमके अनुकूल वेदोक्त और स्मार्त कर्म करने चाहिये । जिनमें इन्द्रियोंकी आसक्ति शीघ्र होती है, ऐसे कर्मोंमें और शास्त्रविरुद्ध कर्मोंमें कभी न लगना चाहिये । धन होनेपर या न होनेपर भी धनसंचयकी चेष्टा ब्राह्मण कभी न करे । इच्छापूर्वक किसी भी इन्द्रियके विषयमें आसक्त न हो; इन्द्रिय स्वभावसे ही किसी विषयमें आसक्त हो जायँ तो उनको वहाँसे हटा ले । वेदके विरुद्ध कुछ भी उपार्जन न करे । नित्य सावधानीके साथ वेदोक्त धर्मका आचरण करे । ब्राह्मणको गाने-बजाने आदिसे अथवा शास्त्रविरुद्ध कर्मों-से तथा संकटकी दशामें भी बहुत-सा धन मिलता हो, तो भी वैसा धन पानेकी चेष्टा न करे । स्वाध्यायके विरोधी सभी कर्मोंका त्याग कर दे । गृहस्थ ब्राह्मण अपनी आयु, कर्म, धन, विद्या और कुलके अनुकूल ही वेष, वाणी और बुद्धिसे काम लेता हुआ जगत्में विचरे । नित्य पञ्चमहायज्ञ करे । (मनुस्मृति) । प्रतिदिन नियमानुसार संध्या-वन्दनादि नित्यकर्म अवश्य ही करे । यदि कोई ब्राह्मण मोहवश संध्यावन्दनादि नहीं करता तो देवता तथा पितर उसके द्वारा की हुई पूजा या श्राद्धादिको ग्रहण नहीं करते । ब्राह्मण जबतक जिये, त्रिकालसंध्या करता ही रहे । जो ब्राह्मण ऐसा करते हैं, वे सूर्यके समान तेजस्वी होते हैं । उनके चरणस्पर्शसे पृथ्वी पवित्र होती है, तीर्थ शुद्ध होते हैं और पाप धुल जाते हैं । (ब्रह्मवैवर्त) । ब्राह्मणको नित्य गायत्रीका जप करना चाहिये । गायत्री ब्राह्मणोंका जीवन है ।

ब्राह्मणका कठोर तपोमय जीवन

ब्राह्मणकी जीविकाके सम्बन्धमें शास्त्र कहते हैं—वेद पढ़ना-पढ़ाना, यज्ञ करना-कराना और दान देना तथा लेना—ब्राह्मणके ये छः कर्म बताये गये हैं। इनमें यज्ञ कराना, वेद पढ़ाना और दान लेना—ये तीन ब्राह्मणकी आजीविकाके लिये हैं। ब्राह्मणको ऐसी आजीविका बिल्कुल नहीं करनी चाहिये, जिसमें किसी भी जीवका किसी प्रकार भी अनिष्ट हो अथवा किसीको जरा-सी भी पीड़ा हो। आपत्कालमें भी ब्राह्मण ऐसी वृत्ति न करे। सुख चाहनेवाला ब्राह्मण अपना और अपने कुटुम्बका सादगीसे निर्वाह हो सके, इतने ही धनमें परम संतोष माने। अधिक धन पानेकी लालसा न करे। संतोष ही सुखका मूल है और असंतोष ही दुःखका। ब्राह्मणको ऋत, अमृत, मृत, प्रमृत और सत्यानृतद्वारा अपनी जीविका चलानी चाहिये; परंतु श्ववृत्ति (नौकरी, शूद्रवृत्ति) कभी नहीं करनी चाहिये। जमीनपर बिखरे हुए अनाजके दानोंको बटोरकर उससे काम चलानेका नाम शिलवृत्ति है। इसीका नाम ऋत है। बिना माँगे जो कुछ मिल जाय, उसे अमृतवृत्ति कहते हैं। भीख माँगकर जीवननिर्वाह करना मृतवृत्ति कहलाता है। खेतीको प्रमृतवृत्ति और व्यापारको सत्यानृतवृत्ति कहते हैं। ऋत सर्वोत्तम और अमृत उत्तम वृत्ति है। मृत—भिक्षावृत्ति भी ब्राह्मणके लिये विधेय है। बल्कि वैश्योंकी व्यापारवृत्ति और कृषिवृत्तिकी अपेक्षा ब्राह्मणोंके लिये भिक्षावृत्ति उत्तम है। इन वृत्तियोंद्वारा जीवननिर्वाह करनेवाले ब्राह्मण चार श्रेणियोंमें विभक्त हैं—कुशूलधान्यक, कुम्भीधान्यक, त्र्यहैहिक और अश्वस्तनिक। तीन वर्षतक निर्वाह हो सके, इतने

अन्नकी कोठी भर रखनेवाला ब्राह्मण कुशूलधान्यक, सालभर या छः महीनेके निर्वाहयोग्य अन्नकी छोटी कोठी भर रखनेवाला कुम्भी-धान्यक, तीन दिनके निर्वाहयोग्य अन्नका संग्रह करनेवाला त्र्यहैहिक और केवल आजभरके निर्वाहके लिये संग्रह करनेवाला अश्वस्तनिक कहलाता है। इन चारों प्रकारके संग्रही ब्राह्मणोंमें पहलेकी अपेक्षा अगला उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है; अश्वस्तनिक सर्वश्रेष्ठ है।

इस वर्णनसे पता चलता है कि ब्राह्मणोंका जीवन कितना तपःपूर्ण और कठोर साधनामय है। ऐसे क्लेशसहिष्णु ब्राह्मणोंकी जितनी महिमा गायी जाय, उतनी ही थोड़ी है। शास्त्रोंमें ब्राह्मणोंके लिये और भी अनेकों वैध और निषिद्ध कर्मोंका तथा आचरणोंका उल्लेख है। वस्तुतः ब्राह्मणधर्म इतना कठोर दायित्वपूर्ण है कि उसके पालनमें पद-पदपर सावधानीकी आवश्यकता होती है। यह असिधाराव्रत है। एक ओर जहाँ ब्राह्मण सबका प्रभु और नियन्त्रण-कर्ता है, दूसरी ओर वह स्वाभाविक ही सबके हितमें रत है और इस सर्वभूतहितकी इच्छासे ही अपने ही बनाये नियमोंके कठोर बन्धनमें वह इतना बँधा है कि जरा-सी भूलमें ही अपने स्वरूपसे च्युत हो जाता है। इसीसे उसकी इतनी महिमा है।

यह स्मरण रखना चाहिये कि धर्म ही हिंदूजातिका प्राण है, और उस धर्मके संचालनका समस्त भार ब्राह्मणके कंधोंपर है और हमें यह मुक्तकण्ठसे स्वीकार करना चाहिये कि ब्राह्मणने इस भारको बड़ी ही जिम्मेवारीके साथ वहन किया है। तपोमूर्ति स्वार्थशून्य ब्राह्मणका ऋण केवल हिंदूसमाजपर ही नहीं है, सारे संसारपर है; क्योंकि उसके उपार्जित ज्ञानसे समस्त संसारने लाभ उठाया है।

छिपे हैं; परंतु गम्भीरतासे ध्यान देनेपर ज्ञात होगा कि अन्य वर्णोंकी अपेक्षा आज भी ब्राह्मणोंमें त्याग और तप अधिक है । यदि हम इस बचे-खुचे त्याग-तपको बचाकर बढ़ा सकेंगे तो कङ्कालमें पुनः प्राण आ जायँगे और हम उसकी शक्तिमयी और तेजोमयी मूर्तिको देखकर पुनः अपनेको सुरक्षित पायेंगे । ब्राह्मण मरा नहीं है, मरेगा भी नहीं । वह छिपा है, दबा है, उसे साधना करके प्रकाशमें लाना होगा । इसका उपाय है ब्राह्मणत्वका सम्मान, ब्राह्मणत्वको पुनः स्वरूपप्रतिष्ठित करनेका आयोजन । ब्राह्मणोंको चाहिये कि धन, वैभव, विलासिता और फैशनका मोह छोड़कर अपने स्वरूपको सँभालें । उनका गौरव त्यागपूर्ण ब्राह्मणत्वमें है न कि जमींदारों या धनी व्यवसायियोंका अनुकरण करके अधिक खर्चीला और भड़कीला परंतु दुःख तथा अशान्तिपूर्ण जीवन बनानेमें । उनका आदर्श त्याग है, न कि भोग । प्रभुत्व है, न कि दासत्व । भोगी मनुष्य इन्द्रिय-विषयोंका दास होता है, यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है ।

ब्राह्मणत्वकी रक्षा कर्तव्य

अन्यान्य तीनों वर्णोंको ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि जिससे ब्राह्मणोंके ब्राह्मणत्वकी रक्षा हो, ब्राह्मणोंमें ब्राह्मणत्वके प्रति ममता उत्पन्न हो, वे ब्राह्मण कहलानेमें गौरव समझें और ब्राह्मणके नाते ही उनकी आजीविका सुखपूर्वक चल जाय । यह कभी न सोचें कि पूर्वकालके ब्राह्मण पूज्य थे, आजके नहीं हैं । हम पूछते हैं कि यदि ब्राह्मण गिरे हैं तो क्या क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र धर्मपथपर अग्रसर हुए हैं ? दूसरे-दूसरेके धर्मकी ओर न देखकर अपनी ओर देखिये; तब पता लगेगा कि आपकी क्या दशा है ।

यह पहले कहा जा चुका है कि हिंदूधर्मकी रक्षा ब्राह्मण-

धर्मकी रक्षामें है । यदि ब्राह्मण अपने कर्मको छोड़कर वकील, डाक्टर, व्यापारी या नौकरी-पेशेवाले बन जायँगे तो ब्राह्मणधर्मका पालन कौन करेगा ? आज जो ब्राह्मण संस्कृत पढ़ना छोड़कर अँगरेजी पढ़ते हैं और धीरे-धीरे पाश्चात्य संस्कृतिके ढाँचेमें ढले जा रहे हैं, उसमें कालप्रभाव और पाश्चात्य प्रभुत्वका प्रभाव तो है ही, साथ ही दो प्रधान कारण और हैं । एक है आजीविकाकी कठिनाई और दूसरा, संस्कृतज्ञ कर्मकाण्डी त्यागी ब्राह्मणोंकी उपेक्षा । प्राचीन कालके अनुसार आज ब्राह्मण वनोंमें नहीं रह सकते । कोई रहना भी चाहें तो उन्हें न तो जमीन मिल सकती है और न इच्छानुसार फल-फूल और मूल ही । शिलोञ्छवृत्तिके लिये भी अन्न नहीं मिलता । कारण, आज न तो ब्राह्मण-शासनका अनुगमन करनेवाले ब्राह्मण-भक्त क्षत्रिय राजा हैं और न ऐसे वैश्य-शूद्र ही हैं । गाँवों और नगरोंमें रहनेसे कुछ कुसङ्ग और कुछ परिस्थितिवश आजके ब्राह्मणोंकी आवश्यकताओंका बढ़ जाना भी अस्वाभाविक नहीं है । ऐसी स्थितिमें उनकी आजीविकाकी व्यवस्था न हो तो बाध्य होकर उन्हें दूसरी ओर ताकना पड़ता है । यही कारण है कि कुछ काल पहलेके धर्माभिमानी महान् पण्डितराजोंके पुत्र-पौत्र आज विदेशी भाषा सीखकर ब्राह्मण-संस्कृतिका उपहास करने लगे हैं । दूसरी बात है ब्राह्मण पण्डितोंके सम्मानमें कमी होना । आज लोग जितना अँगरेजी पढ़े-लिखे डिग्रीधारी लोगोंका आदर करते हैं, उतना सीधे-सादे संस्कृतज्ञ पण्डितका नहीं करते । जिसमें धन और मान दोनोंकी कमी नजर आती हो, उससे चिपटे रहना भला, कौन पसंद करेगा ? (यद्यपि आजकल अँगरेजीके बी० ए०, एम्० ए० पास बेकारोंकी संख्या भी बहुत जोरसे बढ़ रही है।) इसीसे आज शास्त्रज्ञ ब्राह्मणोंकी

संख्या क्रमशः घट रही है । अतएव तीनों वर्णोंको चाहिये कि सच्चे मनसे ब्राह्मणोंका आदर-सम्मान करें । उनके अभावोंकी पूर्ति करें और उनकी आजीविकाके लिये प्रयत्न करें । कुछ काल पूर्वतक देवताओंके अनुष्ठान, यज्ञादि कर्म, श्रीहरिकथा तथा पर्वोंपर दान तथा ब्राह्मण-भोजनादिकी प्रथा थी, जिससे धर्म-साधनके साथ-ही-साथ ब्राह्मणोंकी आजीविका चलती थी । राजसभाओंमें पण्डित ब्राह्मणोंका सम्मान था । लोग हृदयसे ब्राह्मणोंको पूजते थे । इसीसे उस समय ब्राह्मण बने रहनेमें उनको सुख मालूम होता था । अब क्रमशः उन प्रथाओंका ह्रास हो रहा है । परंतु इसका फल उत्तम नहीं होगा । देवताओंके सकाम अनुष्ठानोंसे हमारी संस्कृतिकी बड़ी रक्षा होती है, श्रद्धा बढ़ती है और शास्त्रोंका अनुसरण होता है; अतएव सब लोगोंको ब्राह्मणोंके द्वारा पाठ या मन्त्रादिके द्वारा देवताओंकी यथायोग्य पूजा-उपासना अवश्य करवानी चाहिये । जगह-जगह विद्वान् ब्राह्मणोंके द्वारा श्रीहरिकथाकी व्यवस्था करवानी चाहिये, ब्राह्मण-भोजनका आयोजन करना चाहिये और सच्चे मनसे ब्राह्मणधर्मपर आरूढ़ रहनेवाले ब्राह्मणोंका खूब ही सम्मान करना चाहिये । यह याद रखना चाहिये कि बड़े-से-बड़े धनी, व्यवसायी, जज, वकील, डाक्टर ब्राह्मणकी अपेक्षा धर्मकी दृष्टिसे ब्राह्मणधर्मपर आरूढ़ भिक्षाजीवी ब्राह्मण बहुत ही उत्तम और सर्वथा पूज्य है । अतएव ब्राह्मणोंको नीची दृष्टिसे न देखकर उनका हृदयसे सम्मान करना चाहिये । उनके त्यागकी—उनकी वृत्तिकी खूब प्रशंसा करनी चाहिये । ब्राह्मणोंकी सेवामें जिसका तन, मन, धन लगे उसको अपना अहोभाग्य मानना चाहिये—यह याद रखना चाहिये ।

अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणो दैवतं महत्।
प्रणीतश्चाप्रणीतश्च यथाग्निर्दैवतं महत्॥
श्मशानेष्वपि तेजस्वी पावको नैव दुष्यति।
हूयमानश्च यज्ञेषु भूय एवाभिवर्धते॥
एवं यद्यप्यनिष्टेषु वर्तन्ते सर्वकर्मसु।
सर्वथा ब्राह्मणाः पूज्याः परमं दैवतं हि तत्॥
(मनु० ९। ३१७—३१९)

अग्निको चाहे वेदमन्त्रोंसे प्रकट किया हो चाहे दूसरी तरहसे, वह जैसे महान् देवता है, वैसे ही ब्राह्मण विद्वान् हो या अविद्वान्, वह महान् देवता है। तेजस्वी अग्नि श्मशानमें भी दूषित नहीं होता तथा यज्ञोंमें हवन करनेपर फिर बढ़ जाता है। ऐसे ही ब्राह्मण सब प्रकारके छोटे काम करनेपर भी सर्वथा पूज्य हैं; क्योंकि वे परम देवता हैं।

ब्राह्मणसे प्रार्थना

अन्तमें ब्राह्मणके चरणोंमें विनम्र प्रार्थना है—हे भूदेव! सनातनधर्मकी रक्षाका भार भगवान्‌ने तुम्हारे हाथोंमें दिया है, तुम उसे सँभाले रहो। दूसरोंके प्रमादको देखकर तुम प्रमाद मत करो। तुम क्षमा और त्यागकी मूर्ति हो, अपने स्वरूपको स्मरण करो और साधना करके उसपर प्रतिष्ठित हो जाओ। यह मत समझो कि तुम वकील, बैरिस्टर, मैजिस्ट्रेट या सेठ नहीं हो तो तुम्हारा दर्जा नीचा है; तुम भिक्षाजीवी हो तो धनियोंसे नीचे हो। तुम्हारा त्याग सदा ऊँचा है और ऊँचा रहेगा। अपने धर्ममें, अपनी संस्कृतिमें और अपनी वृत्तिमें गौरव-बुद्धि करो। लोभका अवश्य त्याग करो, दुष्ट प्रतिग्रहसे जरूर बचो; पर शुद्ध दान या दक्षिणा ग्रहण करनेमें अपना अपमान कभी न समझो। उसे तो तुम यजमान और दाताके

कल्याणके लिये ग्रहण करते हो। ब्राह्मणत्वके निदर्शक आचार-व्यवहार, वेश-भूषा और कार्यकलापमें अपनेको धन्य समझो। जो लोग तुम्हारी वृत्तिको नीचा समझते हैं, वे स्वयं नीचे हैं। तुम्हारे स्वरूपका उन्हें ज्ञान नहीं है। उनकी भड़कीली पोशाकों, उनके खर्चीले जीवन और उनके राजसी-तामसी ठाटकी माया-मरीचिकासे मोहित मत हो! तुम्हारे त्यागमें ही तुम्हारी महिमा है। भौतिक धन-रत्न तुम्हारे त्यागरूपी परम धनके सामने सर्वथा तुच्छ हैं, नगण्य हैं। वह समय याद करो, जब बड़े-बड़े सम्राटोंके रत्नमणिमय मुकुट तुम्हारी चरणधूलिसे अभिषिक्त होनेमें अपना गौरव समझते थे। लोग चाहते थे तुम कुछ ग्रहण करके उनके धनको धन्य करो, सेवा स्वीकार करके उनके जीवनको सफल करो; परंतु तुम उनके धनकी तथा सेवाकी ओर ताकते ही न थे। यही तुम्हारी महानता थी! इसपर पुनः प्रतिष्ठित होओ! तुम सबके पथप्रदर्शक हो, तुम जगद्गुरु हो। भगवान् मनु कहते हैं—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥
(२।२०)

इस देशमें उत्पन्न ब्राह्मणसे पृथ्वीके सब मनुष्य अपने-अपने सदाचारको सीखें।

अपने इस स्वरूपका स्मरण करो, हिंदू-सनातनधर्मकी अपने तपोबलसे पुनः सुप्रतिष्ठा कर दो, भारतवर्षके लुप्त गौरवको पुनः प्राप्त करा दो और अपने ज्योतिर्मय ज्ञानालोकसे जगत्के समस्त अन्धकारको दूर कर दो। हे पवित्र ब्राह्मण, तुम्हारे पुनीत चरणोंमें यही सादर विनय है।

वर्णाश्रम-धर्म

चारों वर्णोंके धर्म

भगवान् श्रीकृष्ण भक्तवर उद्धवजीसे कहते हैं—

शम, दम, तप, शौच, संतोष, क्षमा, कोमलता, मेरी भक्ति, दया और सत्य—ये ब्राह्मणवर्णके स्वभाव हैं। तेज, बल, धैर्य, शूरवीरता, सहनशीलता, उदारता, पुरुषार्थ, स्थिरता, ब्रह्मण्यता (ब्राह्मण-भक्ति) और ऐश्वर्य—ये क्षत्रिय-वर्णके स्वभाव हैं। आस्तिकता, दानशीलता, दम्भहीनता, विप्रपरायणता और लगातार धन-संचय करते रहना—ये वैश्य-वर्णके स्वभाव हैं। ब्राह्मण, गौ और देवताओंकी निष्कपट भावसे सेवा करना और उसीसे जो कुछ

मिल जाय, उसमें संतुष्ट रहना—ये शूद्र-वर्णके स्वभाव हैं। × × × × अहिंसा, सत्य, अस्तेय, काम, क्रोध और लोभसे रहित होना और प्राणियोंकी प्रिय-हितकारिणी चेष्टामें तत्पर रहना—ये सभी वर्णोंके धर्म हैं।

ब्रह्मचारीके धर्म

अब चारों आश्रमोंमें पहले ब्रह्मचारीके धर्म बतलाते हैं—

जातकर्म आदि संस्कारोंके क्रमसे उपनयन-संस्कारद्वारा दूसरा जन्म पाकर द्विज-कुमार (ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य-वर्णका बालक) इन्द्रियदमनपूर्वक गुरुगृहमें वास करता हुआ गुरुद्वारा बुलाये जानेपर वेदका अध्ययन करे। ऐसे ब्रह्मचारीको चाहिये कि मूँजकी मेखला, मृगचर्म, दण्ड, रुद्राक्ष, ब्रह्मसूत्र, कमण्डलु और आप-से-आप बढ़ी हुई जटाओंको धारण करे, वस्त्रोंको (शौकीनीके लिये) न धुलवाये, रंगीन आसनपर न बैठे तथा कुशाओंको धारण करे। स्नान, भोजन, होम, जपके समय मौन रहे; नख तथा कक्ष एवं उपस्थके बालोंको भी न कटवाये। पूर्ण ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए स्वयं कभी वीर्यपात न करे और यदि असावधानतावश स्वप्नादिमें कभी हो जाय तो जलमें स्नान करके प्राणायामपूर्वक गायत्रीका जप करे। प्रातःकाल और सायंकाल दोनों समय मौनावलम्बनपूर्वक गायत्रीका जप करते हुए पवित्रता और एकाग्रताके साथ अग्नि, सूर्य, आचार्य, गौ, ब्राह्मण, गुरु, वृद्धजन और देवताओंकी उपासना और संध्योपासन करे। आचार्यको साक्षात् मेरा ही स्वरूप समझे, उसका कभी भी निरादर न करे और न कभी साधारण मनुष्य समझकर उसकी किसी बातकी उपेक्षा या अवहेलना

ही करे; क्योंकि गुरु सर्वदेवमय होता है। सायंकाल और प्रातःकाल दोनों समय जो कुछ भिक्षा मिले अथवा और भी जो कुछ प्राप्त हो, गुरुके आगे रख दे और फिर उनके आज्ञानुसार उसमेंसे लेकर संयमपूर्वक उपभोग करे। आचार्यके जाने, लेटने, बैठने और ठहरनेमें सदा अति नम्रतासे हाथ जोड़े हुए साथ ही रहे और अति नीचके समान सदा उनकी सेवा-शुश्रूषामें लगा रहे। इस प्रकार सब प्रकारके भोगोंसे दूर रहकर जबतक विद्या समाप्त न हो जाय, अखण्डित ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करता हुआ वह गुरुकुलमें रहे। यदि स्वर्गादि लोक अथवा जहाँ मूर्तिमान् वेद रहते हैं, उस ब्रह्मलोकमें जानेकी इच्छा हो तो नैष्ठिक ब्रह्मचर्य लेकर यावज्जीवन वेदाध्ययन करनेके लिये गुरुको अपना शरीर समर्पण कर दे। उस ब्रह्मवर्चस्वी निष्पाप बाल-ब्रह्मचारीको चाहिये कि अग्नि, गुरु, आत्मा और समस्त प्राणियोंमें अभिन्न भावसे मेरी उपासना करे। गृहस्थाश्रममें न जाने-वाला ब्रह्मचारी स्त्रियोंका दर्शन, स्पर्श, उनसे वार्तालाप तथा हँसी-मसखरी आदि कभी न करे तथा न किसी भी नर-मादा प्राणियोंको विषय-रत होते दूरसे भी देखे। हे यदुकुलनन्दन! शौच, आचमन, स्नान, संध्योपासन, सरलता, तीर्थसेवन, जप; अस्पृश्य, अभक्ष्य और अवाच्यका त्याग, समस्त प्राणियोंमें मुझे देखना तथा मन, वाणी और शरीर-संयम—ये धर्म सभी आश्रमोंके हैं। इस प्रकार नैष्ठिक ब्रह्मचर्यका पालन करनेवाला अग्निके समान तेजस्वी होता है; तीव्र तपके द्वारा उसकी कर्म-वासना दग्ध हो जानेके कारण चित्त निर्मल हो जानेसे वह मेरा भक्त हो जाता है और अन्तमें मेरे परम पदको प्राप्त होता है। यदि अपने इच्छित शास्त्रोंका अध्ययन

समाप्त कर चुकनेपर गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेकी इच्छा हो तो गुरुको दक्षिणा देकर उनकी अनुमतिसे स्नान आदि करे अर्थात् समावर्तन-संस्कार करके ब्रह्मचर्य-आश्रमको छोड़ दे । श्रेष्ठ ब्रह्मचारीको चाहिये कि ब्रह्मचर्य-आश्रमके उपरान्त गृहस्थ अथवा वानप्रस्थ-आश्रममें प्रवेश करे अथवा यदि विरक्त हो तो संन्यास ले ले । इस प्रकार एक आश्रमको छोड़कर अन्य आश्रमका अवश्य ग्रहण करे; मेरा भक्त होकर अन्यथा आचरण कभी न करे अर्थात् निराश्रम रहकर स्वच्छन्द व्यवहारमें प्रवृत्त न हो ।

गृहस्थके धर्म

जो गृहस्थाश्रममें प्रवेश करना चाहे, वह अपने अनुरूप निष्कलङ्क कुलकी तथा अवस्थामें अपनेसे छोटी, अपने ही वर्णकी कन्यासे विवाह करे अथवा अपनेसे नीचे-नीचेके वर्णोंमेंसे भी विवाह कर सकता है ।

यज्ञ करना, पढ़ना और दान देना—ये धर्म तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनोंके लिये विहित हैं; किंतु दान लेना, पढ़ाना और यज्ञ कराना—ये केवल ब्राह्मण ही करे । किंतु प्रतिग्रह (दान लेना) तप, तेज और यशका विघातक है; इसलिये ब्राह्मण पढ़ाने और यज्ञ करानेसे ही जीविका निर्वाह करे अथवा यदि इनमें भी (परावलम्बन और दीनता आदि) दोष दिखलायी दे तो केवल शिलोञ्छ-वृत्ति*से ही रहे । यह अति दुर्लभ ब्राह्मण-शरीर क्षुद्र विषय-भोग आदिके लिये नहीं है । इसके द्वारा तो यावज्जीवन कठिन

* खेतोंसे किसानके और पैठसे व्यापारीके अन्न ले जानेपर बिखरे हुए दानोंको बटोर लाना ।

धनीपनको कायम रखनेके लिये अंदर-ही-अंदर जलता और जाल रचता रहता है। उसका जीवन कपट, दुःख और संतापका घर बन जाता है। ऐसी अवस्थामें साधनका तो स्मरण ही नहीं रहता। अतएव इस अवस्थाकी प्राप्ति न हो, इससे पहले ही बढ़ती हुई प्रसिद्धिको रोकनेकी चेष्टा करनी चाहिये। यह बात याद रखनी चाहिये—'जिनकी प्रसिद्धि नहीं हुई और भजन होता है, वे पूरे भाग्यवान् हैं। जितनी प्रसिद्धि है, उससे ज्यादा भजन होता है, तो भी अधिक डर नहीं है। जितना भजन होता है, उतनी ही प्रसिद्धि है तो गिरनेका भय है। जितना भजन होता है, उससे कहीं ज्यादा प्रसिद्धि हुई तो वह गिरने लगा और जहाँ कोई बिना भजनके ही भजनानन्दी कहलाता है, वहाँ तो उसका पतन हो ही चुका।'

मान-बड़ाई—यह बड़ी मीठी छुरी है या विषभरा सोनेका घड़ा है। देखनेमें बहुत ही मनोहर लगता है, परंतु साधन-जीवनको नष्ट करते इसे देर नहीं लगती। संसारके बहुत बड़े-बड़े पुरुषोंके बहुत बड़े-बड़े कार्य मान-बड़ाईके मोलपर बिक जाते हैं। असली फल उत्पन्न करनेके पहले ही वे सब मान-बड़ाईके प्रवाहमें बह जाते हैं। मानकी अपेक्षा भी बड़ाई अधिक प्रिय मालूम होती है। बड़ाई पानेके लिये मनुष्य मानका त्याग कर देता है; लोग प्रशंसा करें, इसके लिये मान छोड़कर सबसे नीचे बैठते और मानपत्र आदिका त्याग करते लोग देखे जाते हैं। बड़ाई मीठी लगी कि साधन-पथसे पतन हुआ। आगे चलकर तो उसके सभी काम बड़ाईके लिये ही होते हैं।

जबतक साधनसे बड़ाई होती है, तबतक वह साधकका भेष रखता है। जहाँ किसी कारणसे परमार्थ-साधनमें रहनेवाले मनुष्योंकी निन्दा होने लगती है, वहीं वह उसे छोड़कर जिस कार्यमें बड़ाई होती है, उसीमें लग जाता है; क्योंकि अब उसे बड़ाईसे ही काम है, भगवान्‌से नहीं। अतएव मान-बड़ाईकी इच्छाका सर्वथा त्याग करना चाहिये। परंतु सावधान, यह वासना बहुत ही छिपी रह जाती है, सहजमें इसके अस्तित्वका पता नहीं लगता। मालूम होता है, हम बड़ाईके लिये काम नहीं कर रहे हैं; परंतु यदि निन्दा जरा भी अप्रिय लगती है और बड़ाई सुनते ही मनमें संतोष-सा प्रतीत होता है या आनन्दकी एक लहर-सी उठकर होठोंपर हँसीकी रेखा-सी चमका देती है तो समझना चाहिये कि बड़ाईकी इच्छा अवश्य मनमें है। बहुत-से मनुष्य तो भोगोंतकका त्याग भी बड़ाई पानेके लिये ही करते हैं। यद्यपि न करनेवालोंकी अपेक्षा बड़ाईके लिये किया जानेवाला त्याग या धार्मिक सत्कार्य बहुत ही उत्तम है, परंतु परमार्थदृष्टिसे मान-बड़ाईकी इच्छा अत्यन्त हेय और निन्दनीय होनेके साथ ही साधनसे गिरानेवाली है।

गुरुपन—साधन-अवस्थामें मनुष्यके लिये गुरुभावको प्राप्त हो जाना बहुत ही हानिकारक है। ऐसी अवस्थामें, जब वह स्वयं ही सिद्धावस्थाको प्राप्त नहीं होता, जब उसीका साधनपथ रुक जाता है, तब वह दूसरोंको तो कैसे पार पहुँचायेगा! ऐसे ही कच्चे गुरुओंके सम्बन्धमें यह कहा जाता है—जैसे अंधा अंधोंकी लकड़ी पकड़कर अपने सहित सबको गड्ढेमें डाल देता है, वैसी ही दशा इनकी होती है। परमार्थ-पथमें गुरु बननेका

अधिकार उसीको है, जो सिद्धावस्थाको प्राप्त कर चुका हो। जो स्वयं लक्ष्यतक नहीं पहुँचा है, वह यदि दूसरोंको पहुँचानेका ठेका लेने जाता है तो उसका परिणाम प्रायः बुरा ही होता है। शिष्योंमेंसे कोई सेवा करता है तो उसपर उसका मोह हो जाता है। कोई प्रतिकूल होता है तो उसपर क्रोध आता है। सेवकके विरोधीसे द्वेष होता है। दलबंदी हो जाती है। जीवन बहिर्मुख होकर भाँति-भाँतिके झंझटोंमें लग जाता है। साधन छूट जाता है। उपदेश और दीक्षा देना ही जीवनका व्यापार बन जाता है। राग-द्वेष बढ़ते रहते हैं और अन्तमें वह सर्वथा गिर जाता है। साधनपथमें दूसरोंको साथी बनाना, पिछड़े हुओंको साथ लेना, मित्रभावसे परस्पर सहायता करना, भूले हुओंको मार्ग बताना, साथमें प्रकाश या भोजन हो तो दूसरोंको भी उससे लाभ उठाने देना, मार्गके बीमारोंकी सेवा करना, अशक्तोंको शक्तिभर साहस, शक्ति और धैर्य प्रदान करना तो साधकका परम कर्तव्य है। परंतु गुरु बनकर उनसे सेवा कराना, पूजा प्राप्त करना, अपनेको ऊँचा मानकर उन्हें नीचा समझना, दीक्षा देना, सम्प्रदाय बनाना, अपने मतको आग्रहसे चलाना, दूसरोंकी निन्दा करना और बड़प्पन बघारना आदि बातें भूलकर भी नहीं करनी चाहिये।

बाहरी दिखावा—साधनमें 'दिखावे' की भावना बहुत बुरी है। वस्त्र, भोजन और आश्रम आदि बातोंमें मनुष्य पहले तो संयमके भावसे कार्य करता है; परंतु पीछे उसमें प्रायः 'दिखावे' का भाव आ जाता है। इसके अतिरिक्त, 'ऐसा सुन्दर आश्रम बने, जिसे

देखते ही लोगोंका मन मोहित हो जाय, भोजनमें इतनी सादगी हो कि देखते ही लोग आकर्षित हो जायँ, वस्त्र इस ढंगसे पहने जायँ कि लोगोंके मन उनको देखकर खिंच जायँ'—ऐसे भावोंसे भी ये कार्य होते हैं। यद्यपि यह दिखावटी भाव सुन्दर और असुन्दर दोनों ही प्रकारके चाल-चलन और वेष-भूषामें रह सकता है। बढ़िया कपड़े पहननेवालेमें स्वाभाविकता हो सकती है और मोटा खद्दर, या गेरुआ अथवा बिगाड़कर कपड़े पहननेवालेमें 'दिखावे' का भाव रह सकता है। इसका सम्बन्ध ऊपरकी क्रियासे नहीं है, मनसे है। तथापि अधिकतर सुन्दर दिखानेकी भावना ही रहती है। लोकमें जो फैशन सुन्दर समझी जाती है, उसीका अनुकरण करनेकी चेष्टा प्रायः हुआ करती है। अंदर सचाई होनेपर भी 'दिखावे' की चेष्टा साधकको गिरा ही देती है। अतएव इससे सदा बचना चाहिये।

पर-दोष-चिन्तन—यह भी साधन-मार्गका एक भारी विघ्न है। जो मनुष्य दूसरेके दोषोंका चिन्तन करता है, वह भगवान्‌का चिन्तन नहीं कर सकता। उसके चित्तमें सदा द्वेषाग्नि जला करती है। उसकी जहाँ नजर जाती है, वहीं उसे दोष दिखायी देते हैं। दोषदर्शी सर्वत्र *भगवान्‌को* कैसे देखे! इसी कारण वह जहाँ-तहाँ हर किसीकी निन्दा कर बैठता है। परदोषदर्शन और परनिन्दा साधनपथके बहुत गहरे गड्ढे हैं। जो इनमें गिर पड़ता है, वह सहज ही नहीं उठ सकता। उसका सारा भजन-साधन छूट जाता है। अतएव साधकको अपने दोष देखने तथा अपनी सच्ची निन्दा

करनी चाहिये। जगत्की ओरसे उदासीन रहना ही उसके लिये श्रेयस्कर है।

सांसारिक कार्योंकी अधिकता—मनुष्यको घरके, संसारके, आजीविकाके—यहाँतक कि परोपकार तकके कार्य उसी हद्तक करने चाहिये, जिसमें विश्राम करने तथा दूसरी आवश्यक बातें सोचनेके लिये पर्याप्त समय मिल जाय। जो मनुष्य सुबहसे लेकर रातको सोनेतक काममें ही लगे रहते हैं, उनको जब विश्राम करनेकी ही फुरसत नहीं मिलती, तब घंटे दो घंटे स्वाध्याय करने अथवा मन लगाकर भगवच्चिन्तन करनेको तो अवकाश मिलना सम्भव ही कैसे हो सकता है। उनका सारा दिन हाय-हाय करते बीतता है, मुश्किलसे नहाने-खानेको समय मिलता है। वे उन्हीं कामोंकी चिन्ता करते-करते सो जाते हैं, जिससे स्वप्नमें भी उन्हें वैसी ही सृष्टिमें विचरण करना पड़ता है असलमें तो सांसारिक पदार्थोंके अधिक संग्रह करनेकी इच्छा ही दूषित है। दानके तथा परोपकारके लिये भी धन-संग्रह करनेवालोंकी मानसिक दयनीय दुर्दशाके दृश्य प्रत्यक्ष देखे जाते हैं, फिर भोगके लिये अर्थसंचय करनेवालोंके दुःख भोगनेमें तो आश्चर्य ही क्या है। परंतु धन संचय किया भी जाय तो इतना काम तो कभी नहीं बढ़ाना चाहिये, जिसकी सँभाल और देखभाल करनेमें ही जीवनका अमूल्य समय रोज दो घड़ी स्वस्थचित्तसे भगवद्भजन किये बिना ही बीत जाय। जिन बेचारोंके पेट पूरे नहीं भरते, उनके लिये तो कदाचित् दिन-

रात मजदूरीमें लगे रहना और अधिक-से-अधिक कार्यका विस्तार करना क्षम्य भी हो सकता है; परंतु जो सीधे या प्रकारान्तरसे धनकी प्राप्तिके लिये ही कार्योंको बढ़ाते हैं, वे तो मेरी तुच्छ बुद्धिमें भूल ही करते हैं। निष्कामभावसे करनेकी इच्छा रखनेवाले पुरुष भी जब अधिक कार्योंमें व्यस्त हो जाते हैं, तब प्रायः निष्काम-भाव चला जाता है और कहीं-कहीं तो ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है, जिसमें बाध्य होकर सकामभावका आश्रय लेना पड़ता है। अतएव जहाँतक बने, साधक पुरुषको सांसारिक कार्य उतने ही करने चाहिये, जितनेमें गृहस्थीका खर्च सादगीसे चल जाय, प्रतिदिन नियमित रूपसे भजन-साधनको समय मिल सके, चित्त न अशान्त हो और न निकम्मेपनके कारण प्रमाद या आलस्यको ही अवसर मिले, कर्तव्य-पालनकी तत्परता बनी रहे और मनुष्य-जीवनके मुख्य ध्येय 'भगवत्प्राप्ति' का कभी भूलकर भी विस्मरण न हो।

विघ्न और भी बहुत-से हैं, पर प्रधान-प्रधान विघ्नोंमें ये आठ बड़े प्रबल हैं। साधकको चाहिये कि वह दयामय सच्चिदानन्दघन भगवान्‌की कृपापर विश्वास करके और उसीका आश्रय ग्रहण करके इन विघ्नोंका नाश कर दे। प्रभु-कृपाके बलसे असम्भव भी सम्भव हो जाता है। मनुष्य प्रभु-कृपापर जितना ही विश्वास करता है, उतना ही वह प्रभुकी सुखमय गोदकी ओर आगे बढ़ता है।

पाप विषयासक्तिसे होते हैं, प्रारब्धसे नहीं

प्रश्न—मनुष्यसे जो पापकर्म बनते हैं, उसमें प्रधान कारण क्या है ?

उत्तर—पापोंके होनेमें प्रधान कारण विषयोंकी आसक्ति ही है; आसक्तिसे कामना उत्पन्न होती है, कामनाकी पूर्तिसे लोभ, और कामनामें विघ्न पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होता है। ये काम, क्रोध, लोभ ही सारे पापोंकी जड़ हैं। भगवान्‌ने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥

(गीता १६। २१)

काम, क्रोध और लोभ—ये तीन प्रकारके नरकके द्वार हैं; ये आत्माका नाश (अधःपतन) करनेवाले हैं, अतएव इन तीनोंको त्याग देना चाहिये।

प्रश्न—क्या विषयासक्तिका और काम, क्रोध, लोभका त्याग करना मनुष्यकी शक्तिमें है ?

उत्तर—अवश्य ही है; शक्तिमें न होता तो भगवान् त्याग करनेकी आज्ञा ही कैसे देते तथा क्यों वेद-पुराण, स्मृति-शास्त्र निषिद्धके त्याग और विहितके ग्रहणकी व्यवस्था करते।

प्रश्न—बात तो ऐसी ही मालूम होती है, परंतु एक संदेह होता है। कुछ सज्जन कहते हैं कि इसमें जीव पराधीन है। एक

बार हरिद्वारमें गङ्गातटपर एक सिंधी माईसे बातचीत होने लगी। माईको वेदान्तका बड़ा बोध मालूम होता था। उन्होंने मुझसे कहा कि 'पाप विषयासक्तिसे भी होते हैं और प्रारब्धसे भी। बल्कि कभी-कभी तो प्रारब्धका इतना प्रबल वेग होता है कि मनुष्यको बाध्य होकर बुरे-से-बुरे पापकर्म करने पड़ते हैं।' जब मैंने नहीं माना तो उन्होंने मुझे जगत्प्रसिद्ध श्रीविद्यारण्यस्वामिकृत 'पञ्चदशी' ग्रन्थसे निम्नलिखित श्लोकोंको पढ़कर सुनाया और उनका अर्थ करके यह समझानेकी चेष्टा की कि 'पाप प्रारब्धसे होते हैं, इनसे छूटनेकी कोशिश न करके ब्रह्मके बोधके लिये चेष्टा करनी चाहिये। ब्रह्मका बोध होनेपर पाप रह भी गये तो कोई हर्ज नहीं; क्योंकि पाप जिन काम-क्रोधादिसे होते हैं, वे तो अन्तःकरणके धर्म हैं। जबतक अन्तःकरण है, तबतक वे रहेंगे ही, और अन्तःकरण स्थूलशरीरके विनाश-तक जरूर रहेगा; अतएव पापोंके लिये कोई चिन्ता नहीं करनी चाहिये।' पञ्चदशीके ये श्लोक थे—

अपथ्यसेविनश्चोरा राजदाररता अपि।
जानन्त एव स्वानर्थमिच्छन्त्यारब्धकर्मतः॥
न चात्रैतद् वारयितुमीश्वरेणापि शक्यते।
यत ईश्वर एवाह गीतायामर्जुनं प्रति॥
सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥

इनका अर्थ समझाते हुए माईजीने कहा—"कुपथ्यका सेवन करनेवाले, चोर और राजाकी स्त्रीके साथ रमण करनेवाले लोग अपने भविष्यमें होनेवाले अनर्थको जानते हुए भी प्रारब्ध कर्मके

वशमें होकर ऐसे काम करनेकी इच्छा करते हैं । और उनकी इन प्रारब्धजनित इच्छाओंका रोकना ईश्वरके लिये भी शक्य नहीं है । इस विषयमें स्वयं ईश्वरने गीतामें अर्जुनके प्रति कहा है कि ज्ञानवान् पुरुष भी अपनी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है, सभी जीव अपनी प्रकृतिके वश रहते हैं; फिर मैं (ईश्वर) या और कोई उसका निग्रह क्या करेगा । यदि मनुष्य अवश्य होनेवाले दुःखोंको रोक सकता तो नल, राम तथा युधिष्ठिर-सरीखे प्रतापी और शक्तिमान् पुरुष कभी दुःखोंमें न फँसते । प्रारब्धका भोग तीन प्रकारसे होता है—स्वेच्छा-से, अनिच्छासे और परेच्छासे । स्वेच्छासे दुःखका भोग देनेवाला प्रारब्ध यदि दुष्कर्मकी इच्छा उत्पन्न न करेगा तो भोग होगा ही कैसे । अतएव स्वेच्छा-प्रारब्धके अनुसार प्राप्त होनेवाले दुःखभोगोंमें मनुष्यके द्वारा पापादिका होना अनिवार्य है । अवश्य ही अज्ञानी इन पापोंमें मनसे फँसता है और ज्ञानी प्रारब्धकी प्रेरणासे बाध्य होकर; क्योंकि अवश्यम्भावीका प्रतीकार तो हो ही नहीं सकता । इसी प्रकार अनिच्छा-प्रारब्धमें बिना अपनी इच्छाके दुःखभोगकी प्राप्ति होती है । अनिच्छा-प्रारब्धकी प्रेरणासे रजोगुण बढ़ता है, उससे काम और क्रोध उत्पन्न हो जाते हैं । इन्हींके कारण मनुष्य पापमें प्रवृत्त हो जाता है । उसकी अपनी इच्छा न रहनेपर भी उसे बाध्य होकर पाप करना पड़ता है । यदि ऐसा न हो तो अनिच्छा-प्रारब्ध सिद्ध ही नहीं हो सकता । इसीलिये गीतामें श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें ऐसा आया है—

> अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
> अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥
(३ । ३६-३७)

अर्जुन पूछता है—'श्रीकृष्ण ! यह पुरुष इच्छा न करनेपर भी किसकी प्रेरणासे पाप करता है ? मानो कोई जबरदस्ती उसे पापमें लगा रहा हो ।' इसके उत्तरमें श्रीकृष्ण कहते हैं—"जो इस पुरुषको पापमें प्रवृत्त करता है, वह रजोगुणसे उत्पन्न हुआ काम है; यह 'काम' ही क्रोधका रूप धारण कर लेता है, यह काम महाशन है अर्थात् कामनाकी कभी पूर्ति होती ही नहीं । अतएव इसी कामको तुम अपना वैरी जानो ।' परेच्छा-प्रारब्धका भोग दूसरेको प्रसन्न करनेके लिये होता है । अतएव इन पापोंको कौन टाल सकता है। इनसे घबरानेकी आवश्यकता नहीं ।"

माईजीके इस उपदेशका मर्म मैं ठीक-ठीक समझ नहीं सका । फिर एक बार एक जगह साधुओंकी एक मण्डली आयी । तीन साधु थे । उनमें जो प्रधान साधु थे, वे नग्न थे; उनके साथ एक युवती स्त्री थी । उनके आचरणपर कुछ संदेह होनेपर मैंने पता लगाया तो मालूम हुआ कि युवती सदा साधुजीके पास रहती है और उसके साथ उसका सम्बन्ध पवित्र नहीं है । मैंने साहस करके साधुजीसे इसका कारण पूछा तो उन्होंने पहले तो यह कहा कि 'तुमको इससे क्या मतलब है, हमसे कोई उपदेश लेना हो तो पूछो ।' मैंने जब नम्रतापूर्वक आग्रह किया, तब उन्होंने जोशमें आकर कहा कि 'हम तो अशास्त्रीय कुछ भी नहीं कर रहे हैं । स्त्रीके साथ रहनेसे हमारे आत्मबोधमें कुछ भी फर्क नहीं पड़ता ।' फिर वे भी पञ्चदशीके

उपर्युक्त माईजीवाले श्लोकोंको कह गये और बोले कि 'यह सब कुछ प्रारब्धसे होता है, जबतक शरीरका प्रारब्ध-भोग शेष है, तबतक इस स्त्रीको हम हटा नहीं सकते। न यह हमें छोड़ सकती है। यह तो इस शरीरके भोगके लिये है। फिर दूसरी बात यह भी है कि हम जो कुछ भी करें, वस्तुतः हम तो कुछ करते ही नहीं। यह तो सब प्रकृतिमें होता है, सब इन्द्रियोंका व्यापार है, हमसे इसका क्या सम्बन्ध! गीता भी तो यही कहती है—

नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्॥
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥

(५।८-९)

'तत्त्वज्ञानी महात्मा देखता, सुनता, स्पर्श करता, सूँघता, खाता, जाता, सोता, साँस लेता, बोलता, छोड़ता, ग्रहण करता, पलकें मारता और खोलता—यह सब काम करता हुआ यही मानता है कि इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयोंमें बर्त रही हैं, हम शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव आत्मासे इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।'

साधुजीकी व्याख्यापर उस समय मुझे कोई उत्तर नहीं आया और मैं वहाँसे अपने घर चला आया।

मुझे सिंधी माईजीसे बात करके तो ऐसा अनुमान हुआ था कि माईजी जो कुछ कहती हैं, अपने सरल विश्वाससे जैसा समझी हैं, वैसा ही कहती हैं; परंतु साधुजीकी बात सुनकर और उनके हाव-भाव देखकर तो यही प्रतीत हुआ कि ये अपने दोषका समर्थन करने-

के लिये ही शास्त्रका दुरुपयोग कर रहे हैं। जो कुछ भी हो, अब प्रश्न यह है कि क्या वास्तवमें स्वेच्छा और अनिच्छा-प्रारब्धसे मनुष्य पाप करनेको बाध्य है? क्या गीतामें इसका समर्थन है? और क्या ज्ञानी पुरुष भी निषिद्धाचरण कर सकता है? यदि नहीं तो विद्यारण्य स्वामी-जैसे ग्रन्थकारने ऐसी बातें क्यों लिखीं? क्या आपने पञ्चदशी पढ़ी है? आपका इस सम्बन्धमें जो कुछ भी अभिमत हो, मुझसे स्पष्ट समझाकर कहिये।

उत्तर—श्रीविद्यारण्य स्वामीकी पञ्चदशीको मैंने देखा है। पञ्चदशी वेदान्तका बहुत ही उपादेय और मान्य ग्रन्थ है। विद्यारण्य स्वामीकी महान् विद्वत्ताके सामने सहज ही मनुष्यका सिर झुक जाता है। फिर आचार्यके नाते तो वे हम सबके परम पूज्य हैं, ऐसी दशामें मुझ-सरीखा साधारण मनुष्य उनके शब्दोंपर क्या आलोचना कर सकता है। दीर्घकालतक आचार्योंके चरणोंमें बैठकर श्रद्धापूर्वक स्वाध्याय करनेसे ही उनके वचनोंका रहस्य जाना जा सकता है। पूज्यपाद विद्यारण्य स्वामीने ही यदि इस प्रकरणको लिखा है तो किस रहस्यको मनमें रखकर लिखा है, कुछ समझमें नहीं आता। परंतु इस प्रकरणका साधारणतः जो अर्थ किया जाता है या समझा जाता है, उससे तो अवश्य ही बहुत ही अनुचित प्रवृत्तियोंके विस्तारमें सहारा मिला है और उसके बलपर पापका बहुत विस्तार हुआ है। आपने जो उदाहरण दिये हैं, ऐसे सैकड़ों-हजारों उदाहरण मिल सकते हैं। परंतु एक बात याद रखनी चाहिये, किसीके द्वारा दुरुपयोग किये जानेसे ही शास्त्रके रहस्यमय

वाक्य दूषित नहीं हो जाते । दुरुपयोग तो विषयीलोग हरेक बात-का ही करते हैं, उनका उद्देश्य ही किसी-न-किसी प्रकारसे अपनी भोग-कामनाको पूर्ण करना होता है । देखना तो यह है कि वास्तवमें इसका रहस्य क्या है, इस सम्बन्धमें मैं तो बहुत नम्रताके साथ पूज्यपाद श्रीविद्यारण्य स्वामीजीके पवित्र चरणोंमें नमस्कार करता हुआ यही कहता हूँ कि बार-बार विचार करनेपर भी पञ्चदशीके उपर्युक्त वाक्योंका रहस्य मैं समझ नहीं सका । वरं कभी-कभी तो मनमें ऐसा दृढ़ भाव आता है कि ये वाक्य महामान्य विद्यारण्य मुनिके हैं ही नहीं; क्योंकि जो महामान्य विद्यारण्य मुनि पञ्चदशीमें ही अन्यत्र स्वयं कहते हैं—

अशास्त्रीयमपि द्वैतं तीव्रं मन्दमिति द्विधा ।
कामक्रोधादिकं तीव्रं मनोराज्यं तथेतरत् ॥
उभयं तत्त्वबोधात् प्राङ्निवार्यं बोधसिद्धये ।
शमः समाहितत्वं च साधनेषु श्रुतं यतः ॥
तत्त्वं बुद्ध्वापि कामादीन्निःशेषं न जहासि चेत् ।
यथेष्टाचरणं ते स्यात् कर्मशास्त्रातिलङ्घिनः ॥
बुद्धाद्वैतसतत्त्वस्य यथेष्टाचरणं यदि ।
शुनां तत्त्वदृशां चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे ॥
बोधात् पुरा मनोदोषमात्रात् क्लिश्यस्यथाधुना ।
अशेषलोकनिन्दा चेत्यहो ते बोधवैभवम् ॥
विड्वराहादितुल्यत्वं मा काङ्क्षीस्तत्त्वविद् भवान् ।
सर्वधीदोषसंत्यागाल्लोकैः पूज्यस्व देववत् ॥

(पञ्चदशी, द्वैतविवेकप्रकरण ४९ से ५०, ५४ से ५७)

'अशास्त्रीय द्वैत भी तीव्र और मन्द—दो प्रकारका होता है। काम-क्रोधादिको तीव्र द्वैत कहते हैं और मनोराज्यको मन्द। बोधकी सिद्धिके लिये अर्थात् ज्ञानकी प्राप्तिके लिये इन दोनों प्रकारके द्वैतोंको पहले ही निवारण कर देना चाहिये; क्योंकि ब्रह्मज्ञानके साधनोंमें मन-इन्द्रियोंका वशमें होना और चित्तका समाहित होना दोनों ही सुने जाते हैं। तत्त्वको जानकर भी यदि तू कामादिका पूर्णरूपसे नहीं त्याग करेगा तो उसके फलस्वरूप शास्त्रोंकी आज्ञाको उल्लङ्घन करनेवाला यथेच्छाचारी बन जायगा। और यदि अद्वैत तत्त्वको जान लेनेपर भी यथेच्छाचार ही बना रहा तो फिर उस शास्त्रका उल्लङ्घन करनेवाले तत्त्वज्ञानी और कुत्तोंमें भेद ही क्या रह गया! इससे तो अज्ञानी रहना अच्छा था; क्योंकि उस अवस्थामें तुझे काम-क्रोधादि मानसिक दोष ही क्लेश दिया करते थे, पर अब ज्ञानी कहलानेपर उन दोषोंके साथ-साथ लोकमें तेरी बड़ी भारी निन्दा और होने लगी है। वाह! तेरा यह ज्ञानका वैभव भी विचित्र ही है! (अर्थात् यदि यही ज्ञान है तो फिर अज्ञान क्या होगा) अतएव तुम तत्त्ववेत्ता होकर विष्ठा खानेवाले सूअर आदिके समान बनना मत चाहो। सब दोषोंको इस प्रकार छोड़कर ज्ञानी बनो कि लोग तुम्हारी देववत् पूजा करें।'

जो महापुरुष इतने कड़े शब्दोंमें मिथ्या ज्ञानीकी खबर लेते हैं और काम-क्रोधका विरोध करते हैं, वे प्रारब्धभोगके व्याजसे ज्ञानीके लिये भी प्रकारान्तरसे परवश होकर पाप करना कैसे सिद्ध करेंगे?

तत्त्वज्ञानके अधिकारकी व्याख्या करती हुई श्रुति स्पष्ट शब्दोंमें घोषणा करती है—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥
(कठ० १ । २ । २४)

'जो पापकर्मोंसे निवृत्त नहीं हुआ है, जिसकी इन्द्रियाँ शान्त नहीं हैं और जिसका चित्त समाहित नहीं है और जो अशान्तमानस है, वह पुरुष केवल (बाह्य) ज्ञानके द्वारा ही आत्माको प्राप्त नहीं कर सकता ।' जब आत्माकी प्राप्तिके पहले ही पापोंका परित्याग कर देना पड़ता है, तब आत्मप्राप्तिके अनन्तर बोधवान् पुरुषके द्वारा पाप कैसे हो सकते हैं ? और कैसे महामान्य विद्वान् श्रीविद्यारण्य-मुनि-जैसे महापुरुष उसका प्रतिपादन कर सकते हैं । इन्हीं सब बातोंपर विचार करनेसे मेरे उस सन्देहकी पुष्टि हो जाती है कि सम्भव है किसी मनचले मनुष्यने अपने मिथ्या ज्ञानको (जिसका स्वयं विद्यारण्य मुनि विरोध करते हैं) वास्तविक ज्ञानके आसनपर बैठनेके लिये विद्यारण्य मुनिके पवित्र नामका दुरुपयोग किया है । इसीसे शरीर और मनसे पापाचरण करते हुए भी लोग अपनेको आज जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरुष कहनेमें नहीं सकुचाते और भोली जनताको भ्रममें डालते हैं । ऐसे ही लोगोंके लिये कहा गया है—

सर्वे ब्रह्म वदिष्यन्ति सम्प्राप्ते हि कलौ युगे ।
नानुतिष्ठन्ति मैत्रेय शिश्नोदरपरायणाः ॥

'हे मैत्रेय ! कलियुग आनेपर व्यभिचारी और पेटू लोग साधन कुछ भी नहीं करेंगे, परंतु ब्रह्मकी बातें सब करेंगे ।' गोस्वामीजीने भी कहा है—

ब्रह्म ग्यान बिनु नारि नर कहहिं न दूसरि बात ।
कौड़ी लागि लोभ बस करहिं बिप्र गुर घात ॥

ऐसे ही लोगोंने पञ्चदशीमें अपनी बात रख दी हो तो क्या आश्चर्य है। क्योंकि वहाँका वह प्रसङ्ग युक्तिसङ्गत और शास्त्रीय नहीं ठहरता; कैसे नहीं ठहरता, इस विषयपर कुछ निवेदन करता हूँ।

सबसे पहली बात तो यह है कि प्रारब्धसे पाप होना युक्तिसङ्गत नहीं है। प्रारब्धके परवश होकर मनुष्य पाप करनेको बाध्य हो—इस सिद्धान्तके माननेसे कई अनिवार्य दोष आते हैं, जिनमें कुछ ये हैं—

१—विधि-निषेधात्मक शास्त्रवाक्योंका कोई मूल्य नहीं रह जाता। 'ऐसा करो' और 'ऐसा न करो'—ये शास्त्रवाक्य तभी लागू हो सकते हैं, जब मनुष्य करनेमें स्वतन्त्र हो; यदि परवश होकर वह अनिच्छापूर्वक पाप करनेके लिये बाध्य है, तब शास्त्रोंका शासन उसपर कैसे चल सकता है। और ऐसी अवस्थामें सभी पापाचारी नर-नारी यह कह सकते हैं कि हम तो प्रारब्धके कारण ही ऐसा कर रहे हैं, शास्त्रको मानना हमारे लिये सम्भव नहीं है।

२—प्रारब्धवश पापकी इच्छा होती है, ऐसा माननेवालोंको यह तो मानना ही पड़ता है कि वह प्रारब्ध-भोग पुण्यकर्मका फल नहीं है, पापका ही फल है। और जब पापका फल पाप है और उसे करनेके लिये मनुष्य बाध्य है, तब उसके पापका कभी अन्त हो ही नहीं सकता। पापका फल पाप, फिर पापका फल पाप—इस अनवस्था-

दशामें जीवके उद्धारकी कोई आशा नहीं रह जाती । साथ ही यह भी सिद्ध होता है कि इस प्रकार विधान करनेवाला ईश्वर जीवोंको पापके बन्धनसे कभी मुक्त करना ही नहीं चाहता ।

३—साधारण विवेकसे भी यह बात भलीभाँति समझमें आती है कि किसी भी विवेकयुक्त कानूनमें ऐसा विधान नहीं होना चाहिये कि जो एक अपराधके दण्डस्वरूप पुनः दूसरा अपराध करनेकी अनुमति देता हो । कोई भी दण्डविधान यह नहीं कह सकता कि चोरी करनेवालेको पुनः चोरी करनी पड़ेगी । जब मानवी कानूनमें ऐसा विधान नहीं हो सकता, तब परम न्यायकारी और दयालु ईश्वरके कानूनमें ऐसा विधान होना कैसे सम्भव है ।

४—शास्त्रोंमें पापके लिये दण्डविधान है । रोग, धन-नाश, पुत्रनाश, अकीर्ति आदिके रूपमें पापका ही दण्ड मिलता है । परंतु जब स्वयं ईश्वर जीवके लिये पापका विधान करता है और उसे पाप करनेके लिये मजबूर करता है और फिर स्वयं ही उसके लिये दण्ड-भोगकी व्यवस्था करता है, तब तो इससे ईश्वर अन्यायी सिद्ध होता है ।

५—जब जगन्नियन्ता ईश्वर ही जीवसे कर्म कराता है, तब उसके फलस्वरूप प्राप्त होनेवाला सुख-दुःख भी ईश्वरको ही भोगना चाहिये । कर्म करनेको बाध्य करे ईश्वर और फल भोग करे जीव— यह भी ईश्वरका एक अन्याय ही है ।

अतएव किसी भी युक्तिसे सिद्ध नहीं होता कि पाप प्रारब्धसे होते हैं । स्वेच्छा और अनिच्छा-प्रारब्धके भोगमें जो

गीताका प्रमाण दिया गया है, वह भी युक्तियुक्त नहीं है; क्योंकि ज्ञानी भी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है—इसका अर्थ यह नहीं होता कि वह पूर्वजन्मके कर्मवश पाप करता है। प्रकृतिका अर्थ है स्वभाव, ज्ञानीका स्वभाव ज्ञानकी यथार्थ प्राप्तिसे पूर्व साधन-कालमें ही शुद्ध हो जाता है। उस शुद्धस्वभावमें अशुद्धि कैसे आ सकती है। फिर इसी श्लोकके अगले ही श्लोकमें भगवान् यह कहते हैं कि प्रत्येक इन्द्रियके अर्थमें राग-द्वेष स्थित हैं, उन दोनोंके वशमें मत हो; क्योंकि वे दोनों तुम्हारे परिपन्थी हैं—साधनको लूटनेवाले हैं।

> इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
> तयोर्न वशमागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥
> (गीता ३।३४)

यदि ज्ञानवान् पुरुष भी प्रकृतिपरवश होकर पाप करनेमें बाध्य होता तो भगवान् राग-द्वेषसे—जो पापोंके मूल हैं—बचनेकी आज्ञा कैसे देते। क्योंकि वैसी अवस्थामें बचना-न-बचना तो उसके हाथमें है ही नहीं। अतएव यही सिद्ध होता है कि यहाँ प्रकृतिका अर्थ उसका निवृत्ति या प्रवृत्तिपरक स्वभाव है, पाप-वासना नहीं। अतः प्रारब्धभोगवश पाप करनेके लिये मनुष्य बाध्य है, इसके समर्थनमें ईश्वरवाक्यके रूपमें उक्त 'सदृशं चेष्टते स्वस्याः' श्लोकका प्रमाण सर्वथा अनुपयुक्त है। उससे आगे 'अनिच्छा-प्रारब्ध-भोग' के प्रमाणमें अर्जुनके प्रश्न और श्रीभगवान्के उत्तरको प्रमाणमें देनेकी तो किसी प्रकार भी संगति नहीं बैठती; क्योंकि वहाँ तो भगवान् स्पष्ट शब्दोंमें पाप-वासनामें रजोगुणसे उत्पन्न कामको कारण बताते हैं, 'प्रारब्ध'को नहीं। और आगे चलकर उसी

प्रसङ्गमें अति स्पष्ट शब्दोंमें अर्जुनको यह आज्ञा करते हैं कि 'इन्द्रिय, मन और बुद्धिमें बसकर ज्ञान-विज्ञानका नाश करनेवाले इस पापी कामको तू पहले इन्द्रियोंका नियमन करके अवश्य मार। आत्मा बुद्धिसे भी श्रेष्ठ है, इस बातको समझकर आत्माके द्वारा आत्माको वश करके तू, हे महाबाहो! इस दुर्जय कामरूपी वैरीको मार!' यदि प्रारब्धवश ही कामके वशमें होनेमें मनुष्य बाध्य होता तो भगवान् यही कहते कि "भाई! प्रारब्धके कारण ऐसा होता है। इसमें कोई क्या करे—'निग्रहः किं करिष्यति।'" परंतु यहाँ तो 'काम' पर विजय प्राप्त करनेकी आज्ञा स्पष्ट दी गयी है। ऐसी परिस्थितिमें इन श्लोकोंका 'अनिच्छा-प्रारब्धवश' पापाचरण होनेके समर्थनमें प्रयोग किया जाना कदापि गीताके पूर्वापरको देखते उचित नहीं जान पड़ता। अतएव प्रथम तो प्रारब्धवश पापोंका होना ही सिद्ध नहीं होता, फिर ज्ञानीके द्वारा तो पापकर्मकी सम्भावना ही नहीं है। ज्ञानीमें अज्ञान, अहंकार, राग, द्वेष और भय—कुछ भी नहीं रहते; फिर पाप हो कहाँसे। सबका मूल तो अज्ञान है। जब उसीका नाश हो गया, तब पापोंका रहना कैसे माना जा सकता है। अवश्य ही ज्ञानी पुरुषमें जैसे पाप नहीं हैं, वैसे ही पुण्य भी नहीं हैं; तथापि जिस अन्तःकरणसे ज्ञानीका सम्बन्ध कहा जाता है, उस अन्तःकरणके समस्त कर्म ज्ञानाग्निद्वारा जल जानेके कारण वह परम पवित्र हो जाता है; उस परम पवित्र अन्तःकरणमें जो पूर्व स्वभाववश स्फूर्ति होती है, वह पुण्यमयी और शास्त्रानुमोदित ही होती है। और उस स्फूर्तिके फलस्वरूप होनेवाले प्रत्येक कर्ममें प्राणियोंका कल्याण भरा रहता है!

साधारण मनुष्यको प्रारब्धवश सुख-दुःखका भोग करना पड़ता है, और उस अवश्य होनेवाले सुख-दुःखसे मनुष्य बच भी नहीं सकता। सुखका तो कहीं त्याग भी कर सकता है; क्योंकि यह तो उसको अपने पाससे देना है। परंतु दण्डस्वरूप दुःखभोगका त्याग कोई नहीं कर सकता। यह दुःख-भोग ही 'अवश्यम्भावी' है, और इससे कोई भी नहीं बच सकता। इस दृष्टिसे यदि कहा जाय कि नल, राम, युधिष्ठिरको भी दुःख भोगने पड़े तो ठीक ही है, परंतु दुःख भोगनेका पर्याय पाप करना नहीं है।*दुष्कर्मका फल दण्डभोग है, पाप तो नवीन कर्म है, जो पापवासनासे उत्पन्न होता है।

अब यदि यह प्रश्न हो कि फिर स्वेच्छा, अनिच्छा और परेच्छा प्रारब्धका क्या रूप होगा तो उनके बहुत-से रूप हो सकते हैं। एक मनुष्य इच्छा करके नदीमें नहाने जाता है, वहाँ डूब जाता है; व्यापार करता है, उसे घाटा-नफा हो जाता है; यह स्वेच्छा प्रारब्ध है। रास्तेमें चल रहा है, ऊपरसे पेड़ गिर पड़ा, मकानमें बैठा है, छत टूटकर उसपर पत्थर गिर गया। भूकम्पसे सर्वनाश हो गया। बाढ़में सब कुछ बह गया। घरकी नींवमें धन मिल गया। यह अनिच्छा-प्रारब्ध है। बिना जाँचे-माँगे ही दान दे दिया, किसीने किसीको मार दिया, जानवरने काट खाया, द्वेषवश या किसी परिस्थितिके कारण किसीने प्रहार कर दिया—यह परेच्छा-प्रारब्ध-भोग है।

* भगवान् श्रीराम तो पूर्णब्रह्म पुरुषोत्तम थे, उनके सम्बन्धमें तो कुछ कहना ही नहीं बन सकता।

इन सब बातोंके कहनेसे मेरा यह अभिप्राय नहीं है कि मैं तुच्छ जीव महामान्य विद्यारण्य मुनिके वचनोंका खण्डन कर रहा हूँ; इस प्रकरणको लेकर लोग नानाविध युक्तियोंसे जो उनका खण्डन करते हैं और उससे जो मेरे मनमें क्लेश होता है, उस क्लेशसे अपनेको मुक्त करनेके लिये मैं ऐसा अनुमान कर रहा हूँ और शास्त्र तथा तर्क मेरे इस अनुमानकी पुष्टि कर रहे हैं। अपनी तुच्छ बुद्धिके अनुसार मुझे इस प्रकरणके पञ्चदशीकारकी कृति होनेमें ही संदेह है; क्योंकि पञ्चदशीकार इस प्रकारकी लचर दलीलवाली बात पञ्चदशी-सरीखे उच्च श्रेणीके महामान्य ग्रन्थमें नहीं लिख सकते।

इतना होनेपर आखिर है यह मेरा अनुमान ही। मैं यह बलपूर्वक नहीं कह सकता कि ऐसा ही है; और न उपर्युक्त विवेचन करनेपर भी यही कहनेका साहस करता हूँ कि पञ्चदशीकारके कहनेका यही अर्थ है, जो साधारण लोगोंकी समझका अनुसरण करते हुए मैंने दिया है। पञ्चदशीकारकी कृति होनेकी हालतमें तो मैं यही कह सकता हूँ कि मैं उनकी इस व्याख्याको समझ नहीं सका हूँ। और यह मैं पहले भी कह चुका हूँ। परंतु पाठकोंसे इतना निवेदन अवश्य कर देना चाहता हूँ कि जिस अर्थमें पञ्चदशीकारका यह प्रसङ्ग लिया जाता है, उसी अर्थमें इसको सिद्धान्तरूपसे माननेमें हानिको छोड़कर लाभ नहीं है; किसी भी रूपमें पापका समर्थन करना दुर्बलेन्द्रिय साधकके लिये परम हानिकर हुए बिना नहीं रह सकता। विधि-निषेधके परे पहुँचे हुए सिद्ध पुरुषकी भी शोभा इसमें कदापि नहीं है।

अब गीताके श्लोकोंकी बात रही, सो मेरी समझसे इन्द्रियोंके इन्द्रियार्थमें बर्तनेका ऐसा अर्थ करना गीताका भी दुरुपयोग ही है। अब यह बात समझमें आ गयी होगी कि पाप प्रारब्धसे नहीं होते, पाप होनेमें कारण 'काम' है और 'काम' की उत्पत्ति रजोगुणसे है तथा 'रजो रागात्मकं विद्धि' के अनुसार रजोगुण 'राग' रूप है। यह राग या विषयासक्ति ही पापमें कारण है; इसका त्याग कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग—किसी भी मार्गपर चलनेवालेको करना पड़ता है और ऐसा करनेमें मनुष्य स्वतन्त्र है। भगवान्‌ने कहा है, 'कर्ममें तेरा अधिकार है'—*'कर्मण्येवाधिकारस्ते।'* दूसरी बात यह है कि ज्ञानी पुरुषसे निषिद्ध कर्म होता ही नहीं; उसमें यदि कहीं कोई निषिद्धता दीखती है तो वह हमारा दृष्टिदोष है तथा उसके स्वभावज कर्मकी सदोषताके कारण वैसी प्रतीति होती है।

साथ ही यह बात भी याद रखनी चाहिये कि काम-क्रोधादि अन्तः-करणके धर्म नहीं, विकार हैं। विकार हैं, इसीलिये सत्सङ्ग, कुसङ्ग पाकर वे घटते-बढ़ते हैं। जो चीज घटती-बढ़ती है, वह नाश भी हो सकती है। अतएव काम-क्रोधका नाश न मानना उचित नहीं। जो लोग वस्तुतः काम-क्रोधके वश हो रहे हैं, उन्हें कभी ज्ञानी नहीं मानना चाहिये और अपनेमें भी जबतक ऐसी दोषकी वृत्तियाँ वर्तमान हैं, तब-तक इनके नाशका प्रयत्न करते रहना चाहिये और यही मानना चाहिये कि वास्तविक परमात्मज्ञानसे हम अभी बहुत दूर हैं।*

---

* इस लेखमें जो हरिद्वार और साधुकी घटनाएँ लिखी हैं, वे सत्य हैं।

मौन व्याख्यान

उपदेशकका पद वस्तुतः बहुत ही दायित्वपूर्ण है। अनुभवी पुरुष ही दूसरोंको उपदेश करनेका अधिकारी होता है। जबतक साधना करते-करते किसी विषयमें सिद्धि प्राप्त नहीं हो जाती, तबतक उस विषयका उपदेशक बनना अपने और दूसरोंके साथ ठगी करना है और इसी कारण उपदेशका प्रभाव नहीं पड़ता। फिर खासकर पारमार्थिक विषयमें तो उपदेशक बनना बहुत ही कठिन है। उपदेशकमें निम्नलिखित पाँच बातें अवश्य ही होनी चाहिये—१—जिस विषयका उपदेश करे, उसका पारदर्शी हो, २—जिस साधनका उपदेश करे, उसको स्वयं करनेवाला हो, ३—उपदेशमें

धन-मान-पूजा आदिकी प्राप्तिके रूपमें अपना किञ्चित् भी स्वार्थ न हो, ४—जिस विषयका उपदेश करे, वह विषय परिणाममें सबके लिये कल्याणकारक हो और ५—उपदेशमें किसी प्रकारका भी दम्भाचरण न हो। जिस उपदेशकमें ये पाँचों बातें होती हैं, उसके उपदेशका बड़ा प्रभाव पड़ता है। यद्यपि आकर्षक भाषा, शब्दसौन्दर्य एवं यथायोग्य भावोंका प्रदर्शन आदि साधन श्रोताओंके चित्तको खींचनेमें बहुत सहायक होते हैं, तथापि ये सब व्याख्यान-कलाकी चीजें हैं। कलाके साथ हृदयके परम शुद्ध और कल्याणकारक भावोंका संयोग हो, तभी उस कलासे विशेष लोकोपकार होता है। जो कला केवल कलाके लिये होती है अथवा जिस कलाके प्रदर्शनमें कुवासनाओंके उत्पादक और वर्द्धक दूषित भावोंका संयोग होता है, वह कला समाजके लिये कभी हितकर नहीं हो सकती, चाहे वह कितनी ही विकसित और आकर्षक क्यों न हो। इसके विपरीत जिस अनुभव-पूर्ण वाणीमें सत्य, प्रेम, सरलता और निःस्वार्थ लोकसेवाकी भावना होती है, वह कलाकी दृष्टिसे आकर्षक न होनेपर भी समाजके लिये अत्यन्त कल्याणकारिणी होती है। उपदेशकमें उपर्युक्त पाँच गुणोंके साथ वाग्मिताकी कला भी हो तो वह सोनेमें सुगन्धके समान है और ऐसा उपदेशक जगत्‌की बहुत सेवा कर सकता है; परंतु यह बात ध्यानमें रहनी चाहिये कि जबतक मनुष्यके मनमें आत्मसुधार-की प्रबल आकाङ्क्षा नहीं है—और आत्म-संशोधन और आत्मोत्थानके लिये प्राणपणसे प्रयत्न नहीं किया जाता, तबतक उपदेशक बननेकी इच्छा करना या उपदेशक बनना विडम्बनामात्र है।

सच्ची बात तो यह है कि जिनमें उपदेश देनेके योग्य सद्गुण हैं, उनको भी उपदेशक बननेकी इच्छा नहीं होनी चाहिये। जबतक ऐसी इच्छा है, तबतक कुछ-न-कुछ दुर्बलता मनमें छिपी है। महापुरुषोंके आचरण ही आदर्श सत्कर्म और उनके स्वाभाविक वचन ही उपदेश होते हैं। वे वस्तुतः न तो उपदेशक बनते हैं और न कहलाते हैं। उनकी करनी-कहनीसे अपने-आप ही जगत्को उपदेश मिलता है; और इस सच्चे उपदेशका क्षेत्र आरम्भमें बहुत विस्तृत न होनेपर भी इसका जो कुछ प्रभाव होता है, वह बहुत ही ठोस, स्थायी और आगे चलकर बहुत ही व्यापक हो जाता है। उपदेश देनेकी तो इच्छा ही मनमें नहीं होनी चाहिये। अपने शरीर-मन-वाणीसे होनेवाली क्रियाओंमें भी यह भाव न रहे कि इन्हें देखकर लोग इनसे शिक्षा ग्रहण करें। ऐसी चेष्टा करे, जिसमें स्वाभाविक ही सब क्रियाएँ सत्यके आधारपर हों और निर्मल हों; निरन्तर इस बातको देखता रहे कि मेरे अंदर सत्त्वगुण बढ़ रहा है या नहीं। यदि सत्त्वगुण बढ़ गया तो रज और तम अपने-आप ही दब जायँगे। सत्त्वकी शक्ति बड़ी प्रबल होती है। जिसके हृदयमें शुद्ध सत्त्वभाव है और जिसकी क्रियाओंमें सत्त्वगुणकी प्रबलता है, उसके द्वारा जो कुछ होता है, सभी लोक-कल्याणकारी होता है। वह जहाँ निवास करता है, वहाँका वातावरण शुद्ध होता है। वातावरणकी शुद्धिसे परमाणुओंमें शुद्धि आती है और वे परमाणु जहाँतक फैलते हैं, जिसके साथ जाते हैं, वहीं शुद्धि करते हैं।

उपदेशक बनना कोई पेशेकी चीज नहीं है। यह तो बहुत बड़े अधिकारकी बात है, जो वैसी योग्यता होनेपर ही प्राप्त होता है। जहाँ अयोग्य और अनधिकारी उपदेशक होते हैं, वहाँ प्रथम तो उपदेशका असर नहीं होता, और जो कुछ होता है, वह प्रायः विपरीत होता है। उपदेशककी वाणीके साथ जब लोग उसके आचरणका मिलान करके देखते हैं और जब वाणी एवं आचरणमें परस्पर बहुत अन्तर पाते हैं, तब उनकी या तो उस वाणीपर श्रद्धा नष्ट हो जाती है, अथवा इससे उन्हें यह शिक्षा मिलती है कि कहनेमें अच्छापन होना चाहिये, क्रिया चाहे उसके विपरीत ही हो। और ऐसी शिक्षाके ग्रहण हो जानेपर मनुष्यमें दम्भादि दोष सहज ही आ जाते हैं, जिनसे उसका पतन हो जाता है। व्यक्तियोंके भाव ही समाजमें फैलते हैं और यों समाजभरका पतन होने लगता है। समाजके इस पतनमें प्रधानतया अयोग्य उपदेशक ही कारण होते हैं।

इससे यह सिद्ध होता है कि जो लोग स्वयं सुधरे हुए नहीं हैं, जिनमें स्वयं सद्गुण नहीं हैं, जो स्वयं किसी विषयके अनुभवी नहीं हैं, वे यदि उपदेशकका बाना धारणकर किसी स्वार्थसे या दम्भसे सुधारका और सद्गुणोंका उपदेश करते हैं अथवा बिना अनुभव किये विषयमें अपनी दक्षता प्रकट करते हैं तो समाजके प्रति अपराध करते हैं। अवश्य ही साधकोंका परस्पर हरिचर्चा करना, कथावाचकोंका कथा कहना, मित्रमण्डलीमें सत्-चर्चा करना, स्कूलके अध्यापकोंका बच्चोंके प्रति उपदेश करना आदि इस अपराधमें

नहीं गिने जा सकते; तथापि यहाँ भी इतनी बात तो है ही कि उपदेशके साथ आचरण होता तो उसका परिणाम कुछ विलक्षण ही होता ।

पारमार्थिक गुरुका आसन तो बहुत ही जिम्मेवारीका पद है । इसमें तो मनुष्यके जीवनको लेकर खेलना है । अनुभवी गुरुओंके अभावसे ही शिष्योंका पतन होता है । गुरुओंमें जैसा आचरण होता है, शिष्य उसीका अनुसरण करते हैं । गुरु यदि विषयी होता है, कामी, क्रोधी या लोभी होता है, तो शिष्य भी वैसे ही बन जाते हैं; अतएव गुरुका पद स्वीकार करना तो खाँडेकी धारके समान है । जो विषयी गुरु अपने दुर्गुणोंका आदर्श सामने रखकर शिष्योंके पतनमें कारण होता है, उसकी दुर्गति नहीं होगी तो और किसकी होगी ।

इसमें कोई संदेह नहीं कि अनुभवी तत्त्वज्ञ गुरुकी कृपाके बिना भगवत्तत्त्वका ज्ञान नहीं हो सकता; और यह भी ध्रुव सत्य है कि ऐसे गुरुको ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर और साक्षात् परब्रह्म समझकर सतत प्रणाम और आत्मसमर्पण कर देना चाहिये । भगवान्‌ने कहा है—

आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित् ।
न मर्त्यबुद्ध्यासूयेत सर्वदेवमयो गुरुः ॥

आचार्य-गुरुको मेरा ही स्वरूप समझे; मनुष्य समझकर अवज्ञा या असूया (दोषदृष्टि) न करे; क्योंकि गुरु सर्वदेवमय होता है ।

परंतु यह बात उन्हीं गुरुओंपर लागू होती है, जो शिष्यके अज्ञानका नाश करनेके लिये भगवत्सेवाके भावसे ही गुरुपदको स्वीकार करते हैं, जो गुरु बनकर भी परम ज्ञान-दानके द्वारा भगवत्स्वरूप शिष्यकी सेवा ही करना चाहते हैं; ऐसे गुरु ही शिष्यका भव-बन्धन काटनेमें समर्थ होते हैं। जो अपने शरीरकी सेवा कराना चाहते हैं, शिष्यके धनसे अपने लिये विलास-सामग्रीका संग्रह करनेकी इच्छा रखते हैं, एवं मान और पूजाके लिये ही गुरुका पद ग्रहण करते हैं, उन गुरुओंसे भव-बन्धनका छेदन नहीं हो सकता और न उनके लिये ये शब्द ही हैं।

शिष्यकी श्रद्धाके प्रतापसे कहीं-कहीं अयोग्य गुरुसे भी लाभ हो जाता है; परंतु इसमें शिष्यकी श्रद्धा ही कारण होती है, जिसके कारण वह उस लाभमें अपनी श्रद्धाको कारण न समझकर गुरु-कृपाको ही कारण मानता है। परंतु गुरु बननेवालेको ऐसे अवसरोंपर सावधान रहना चाहिये, और शिष्यकी श्रद्धासे अनुचित लाभ उठानेकी चेष्टा करके अपनेको ठगना नहीं चाहिये।

सच्चे गुरुओंको विशेष उपदेश देनेकी आवश्यकता नहीं होती, उनके आचरणसे ही शिक्षा मिल जाती है। यहाँतक कि उनके कृपालु हृदयमें शिष्यकी स्मृति हो जाने मात्रसे अथवा उनकी कृपामयी मूर्तिके दर्शन मात्रसे ही कल्याण हो जाता है। इसीलिये सत् शिष्य साधक 'गुरोः कृपा हि केवलम्' मानते हैं। ऐसे गुरुओंकी अज्ञात कृपासे चुपचाप शिष्यके हृदयमें शक्ति-संचार होकर उस शक्तिके प्रतापसे शिष्यका समस्त संशय नष्ट हो जाता है। यों अदृश्यरूपमें गुरु-शक्तिकी क्रिया चलती रहती है। यद्यपि गुरुकृत मौखिक

उपदेशकी सार्थकता है, और साधारणतया उसकी आवश्यकता भी बहुत है, तथापि यह याद रखना चाहिये कि वाणीकी अपेक्षा संकल्पकी शक्ति कहीं अधिक है। और एक बात यह भी है कि कुछ बहुत ऊँची स्थितिपर पहुँचे हुए महान् पुरुषोंको छोड़कर अन्य लोगोंकी, जो वाणीका बहुत अधिक प्रयोग करते हैं, पवित्र संकल्प-शक्तिका ह्रास भी हो जाता है। इसीलिये बहुत-से सत्पुरुष यथासाध्य बहुत ही कम बोला करते हैं (यद्यपि यह नियम नहीं है)। ऐसे संकल्प-शक्ति-सम्पन्न महात्मा यदि चाहें तो मुँहसे एक शब्द भी न बोलकर केवल अपनी कल्याणमयी दृष्टिसे, आभ्यन्तरिक स्वाभाविकी शुभ भावनासे, अथवा संकल्प-शक्तिके प्रभावसे शिष्यका अशेष कल्याण कर सकते हैं। और यह जाना गया है कि ऐसे महापुरुषगण शिष्यकी मानसिक स्थिति देखकर, उसकी धारणाके योग्य पात्रताका अनुभवकर धीरे-धीरे चुपचाप उसमें यथायोग्य शक्ति-संचार करते हुए उसकी मानसिक स्थिति और धारणाभूमिको क्रमशः उच्चसे उच्चतर अवस्थामें पहुँचाते रहते हैं और जब देखते हैं कि यह शक्तिको पूर्णतया धारण करनेयोग्य हो गया, तब उसमें शक्तिका पूरा संचार करके क्षणमात्रमें ही दिव्य प्रकाशकी ज्योतिसे उसका अनादिकालीन अज्ञानान्धकार हर लेते हैं। यों बिना ही उपदेशके उसका जीवन धन्य और कृतकृत्य हो जाता है।

इसीसे यह कहा गया है—

> चित्रं वटतरोर्मूले वृद्धाः शिष्या गुरुर्युवा।
> गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्याः संछिन्नसंशयाः॥

'क्या ही आश्चर्य है, पवित्र वटवृक्षके नीचे वृद्ध शिष्य और युवा गुरु विराजमान हैं। गुरुका मौन व्याख्यान हो रहा है और उसीसे शिष्योंका संशय कट गया है।'

वस्तुतः आत्माराम महापुरुषमें आत्माकी दृष्टिसे बाल, युवा या वृद्ध—किसी अवस्थाका होना सम्भव नहीं। आत्मा नित्य ही युवा है; क्योंकि वह एकरस है। ऐसे गुरुके समीप आनेवाले अनादिकालसे प्रकृतिके प्रवाहमें पड़े हुए जीवरूप शिष्योंका अत्यन्त वृद्ध होना भी उचित है। परंतु जो ऐसे गुरुके सामने आ गया और जिसको ऐसे गुरुने शिष्य स्वीकार कर लिया, उसके अज्ञानका नाश हो ही गया समझना चाहिये; क्योंकि ऐसे महापुरुषोंका किसीको स्वीकार कर लेना निश्चय ही अमोघ होता है।

परंतु आजके जमानेमें, जहाँ गली-गली उपदेशक और गुरु मिलते हैं, ऐसे सद्गुरु महात्माओंका प्राप्त होना बहुत ही कठिन है। ऐसे महात्मा भगवत्कृपासे ही प्राप्त होते हैं। अतएव जिनको इस प्रकारके महात्माओंके दर्शन और गुरुरूपसे वरण करनेकी प्रबल इच्छा हो, उन्हें भगवान्के सामने कातरभावसे रोना चाहिये। भगवान्की कृपा होनेपर उनकी प्रेरणासे ऐसे महात्मा आप ही आकर मिल जायँगे, अथवा स्वयं भगवान् ही ऐसे गुरुरूपसे प्रकट होकर शिष्यका उद्धार कर देंगे।

श्रीरामका स्वरूप और उनकी प्रसन्नताका साधन

राम सरूप तुम्हार बचन अगोचर बुद्धिपर।
अबिगत अकथ अपार नेति नेति नित निगम कह॥

× × ×

सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥

प्रश्न—भगवान् श्रीरामको कोई परात्पर ब्रह्म, कोई भगवान् विष्णुका अवतार, कोई महापुरुष, कोई आदर्श राजा और कोई काल्पनिक व्यक्ति मानते हैं; अतएव यह बताइये कि श्रीरामका वास्तविक स्वरूप क्या है?

उत्तर—भगवान् श्रीरामका प्रपञ्चातीत भगवत्स्वरूप कैसा है, इस बातको तो भगवान् ही जानते हैं। संसारमें ऐसा कोई भी नहीं, जो उनके स्वरूपकी यथार्थ और पूर्ण व्याख्या कर सके। भगवान्के सम्बन्धमें अबतक जो कुछ कहा गया है, वह सारा-का-सारा भगवान्का आंशिक वर्णन ही है, शाखाचन्द्र-न्यायसे संकेतमात्र है; तथापि वह मिथ्या नहीं है। समुद्रका प्रत्येक कण समुद्र है; इसी प्रकार भगवान्का जो कुछ भी वर्णन है, वह पूरा न होनेपर भी उन्हींका है और इस दृष्टिसे भगवान्के सम्बन्धमें जो जैसा कहते हैं, ठीक ही कहते हैं। भगवान् श्रीराम परात्पर ब्रह्म भी हैं, विष्णुके अवतार भी हैं, महापुरुष भी हैं, आदर्श राजा भी हैं और उनके काल्पनिक होनेकी कल्पना करनेवाला मन आत्मरूप भगवान्के ही आश्रित

होनेके कारण वे काल्पनिक भी हैं। बात यह है कि भगवान्‌का स्वरूप ही ऐसा है, जिसमें सभीका समावेश है; क्योंकि सब कुछ उन्हींसे उत्पन्न है, उन्हींमें है, सबमें वे ही समाये हुए हैं— वे ही 'सर्व', 'सर्वगत', 'सर्व-उरालय' हैं। वस्तुतः भगवान्‌का स्वरूप, उनके गुण और भाव अकल, अचिन्त्य एवं अनिर्वचनीय हैं। उनकी उपमा कहीं मिलती ही नहीं। इसीसे कहा गया है—

> निरुपम न उपमा आन राम समान रामु निगम कहै।
> जिमि कोटि सत खद्योत सम रबि कहत अति लघुता लहै॥
> एहि भाँति निज निज मति बिलास मुनीस हरिहि बखानहीं।
> प्रभु भाव गाहक अति कृपाल सप्रेम सुनि सुख मानहीं॥

अर्थात् श्रीरामजी उपमारहित हैं, उनकी कोई दूसरी उपमा है ही नहीं। श्रीरामके समान श्रीराम ही हैं, ऐसा वेद कहते हैं। जैसे अरबों जुगनुओंके समान कहनेसे सूर्य प्रशंसाको नहीं, वरं अत्यन्त लघुताको ही प्राप्त होता है, उसी प्रकार अपनी बुद्धिके विकासके अनुसार मुनीश्वर श्रीहरिका वर्णन करते हैं; किंतु प्रभु भक्तोंके भावमात्रको ग्रहण करनेवाले और अत्यन्त कृपालु हैं। वे उस वर्णनको प्रेमसहित सुनकर सुख मानते हैं।

प्र०—मैं तो पूछता हूँ कि जिन भगवान्‌ने दशरथजीके यहाँ जन्म धारण किया था, वे कौन हैं?

उ०—वे साक्षात् भगवान् हैं। हाँ, कल्पभेदसे कभी भगवान् विष्णु रामरूपमें अवतीर्ण होते हैं तो कभी साक्षात् पूर्णब्रह्म परात्पर भगवान्‌का अवतार होता है। परंतु यह स्मरण रहे कि विष्णु भी भगवान्‌के ही स्वरूप हैं; इसलिये स्वरूपतः इनमें कोई तारतम्य नहीं है, लीलाभेदसे ही पृथक्त्व है।

प्र०—भगवान् अवतार क्यों लेते हैं ?

उ०—अपनी इच्छासे । वस्तुतः भगवान्‌में कोई इच्छा भी नहीं है । भक्तोंकी इच्छा ही उनमें इच्छा पैदा कर देती है, इसीसे वे हमलोगोंमें उतर आते हैं । सच्ची बात तो यह है कि न उनमें जन्म है न कर्म; क्योंकि उनके अदृष्ट ही नहीं है । जीव तो अपने पूर्वकृत कर्मोंके संस्कारवश पराधीन हो देह धारण करके अपना कर्म-फल भोगता है और संचितकी स्फुरणा तथा वातावरणके वशमें होकर नवीन कर्म करता है; परंतु भगवान् ऐसा नहीं करते । कारण, उनमें कर्म-संस्कारोंका सर्वथा अभाव है और वे भोगदेह नहीं ग्रहण करते तथा कर्तृत्वाभिमान न होनेसे उनके द्वारा फलोत्पादक नवीन कर्म भी नहीं होता । उनका अवतार तो जीवोंपर अनुग्रहकी वर्षा करनेके लिये ही होता है ।

प्र०—रामायण तथा अन्य पुराणादि ग्रन्थोंमें ऐसा पाया जाता है कि भगवान् शाप या वरदानके वश होकर जन्म ग्रहण करते हैं—जैसे नारदजीने उन्हें मनुष्य होनेका शाप दिया, वृन्दाने शाप दिया, जय-विजयका उद्धार करनेके लिये सनकादि महर्षियोंने शापानुग्रह किया, रावण-कुम्भकर्णादिको ब्रह्माने वर दिया, स्वायम्भुव मनु और शतरूपाको उनके यहाँ पुत्ररूपमें प्रकट होनेके लिये श्रीरामजीने वरदान दिया—इस प्रकारकी और भी अनेकों कथाएँ प्रसिद्ध हैं; इनका क्या हेतु है ? बल्कि कथाएँ तो यहाँतक आती हैं कि शूर्पणखा-की इच्छा पूरी करनेके लिये भगवान्‌ने कृष्णावतारमें उसे कुब्जारूपमें अङ्गीकार किया, दण्डकारण्यके ऋषियोंकी इच्छा-पूर्तिके लिये भगवान्-ने उन्हें गोपिकाओंके रूपमें स्वीकार किया और बालिवधका बदला

श्रीकृष्णावतारमें छिपे हुए व्याधके द्वारा अपने चरणमें बाण मरवाकर चुकाया गया। फिर इन सबका क्या अर्थ है? क्या ये कथाएँ असत्य हैं?

उ०—असत्य एक भी कथा नहीं है। परंतु विचारकर देखनेपर पता लगेगा कि भगवान् अपने भक्तोंपर अनुग्रह करने तथा अपनी धर्म-मर्यादाकी रक्षाके लिये लोकदृष्टिमें अपने ऊपर शाप-वरदानोंका एवं कर्म-फल-भोगका आरोप कर लेते हैं। यही लोकसंग्रहका आदर्श है। वस्तुतः भगवान्‌पर न तो किसी शाप-वरदानका कोई प्रभाव होता है और न उन्हें किसी कर्म-फलका ही भोग करना पड़ता है। जब मुक्त पुरुष भी किसी शाप-वरदानके वश नहीं होते एवं देहाभिमान और कर्तृत्वाभिमान न रहनेके कारण अदृष्टके अभावसे फलभोगार्थ जन्म ग्रहण नहीं करते, तब भगवान्‌की तो बात ही क्या है। इसी विलक्षणताको बतानेके लिये भगवान्‌के जन्म-कर्मको 'लीला' कहा गया है।

भगवान् वस्तुतः किसी शाप-वरदानके वश नहीं हो सकते, इसपर एक इतिहास सुनो—महाभारत युद्धके समाप्त हो जानेपर भगवान् श्रीकृष्ण द्वारकाको लौट रहे थे। रास्तेमें उत्तङ्क मुनिका आश्रम था। श्रीकृष्ण उनके आश्रममें गये; उन्होंने मर्यादाकी रक्षाके लिये मुनिकी पूजा की, मुनिने भी उनका सत्कार किया। फिर बात होते-होते जब मुनिको यह पता लगा कि महाभारत-युद्ध हो गया और उसमें सब योद्धा मारे गये, तब वे श्रीकृष्णपर क्रोधित होकर बोले—'श्रीकृष्ण! तुम चाहते तो युद्धको टाल सकते थे, तुम्हारी उपेक्षाके कारण ही इस महायुद्धमें सबका संहार हुआ; मुझे इस समय

तुमपर बड़ा क्रोध आ रहा है, अतः मैं तुम्हें शाप दूँगा ।' श्रीकृष्णने कहा कि 'मुनिवर ! आप तपस्वी हैं, गुरुभक्त हैं; शान्ति रखिये, मेरे अध्यात्मतत्त्वको जानिये । याद रखिये, आप मेरा तिरस्कार नहीं कर सकते । आपका शाप मुझपर नहीं चलेगा; बल्कि आप शाप देंगे तो आपका तप ही नष्ट हो जायगा । आप जानते नहीं—लोग जिसको सत्-असत्, व्यक्त-अव्यक्त, अक्षर-क्षर कहते हैं, वह सब मेरा ही रूप है । सत्, असत्, सत्-असत् और सत्-असत्से परे जो कुछ है, मुझ सनातन देव-देवके सिवा और कुछ भी नहीं है ।' यह उत्तर सुनकर उत्तङ्क मुनिने श्रीकृष्णका स्तवन किया और उनसे ऐश्वर-रूप दिखलानेकी प्रार्थना की । भगवान् श्रीकृष्णने उनपर कृपा करके उन्हें अपना विराट् स्वरूप दिखलाया, जिसे देखकर मुनि आश्चर्यमें डूब गये । अस्तु,

भगवान्की लीलाओंमें ऐसे और भी बहुत-से उदाहरण एवं सिद्धान्तवाक्य हैं, जिनसे यह सिद्ध है कि उन्हें धर्माधर्मरूप अदृष्ट या कर्म-संस्कारवश जन्म ग्रहण नहीं करना पड़ता, वे अपनी इच्छासे ही अपने दिव्य विग्रहरूपमें प्रकट होते हैं । भगवान् शंकरजीने सतीदेवीसे कहा है—

मुनि धीर जोगी सिद्ध संतत बिमल मन जेहि ध्यावहीं ।
कहि निगम नेति पुरान आगम जासु कीरति गावहीं ॥
सोइ राम व्यापक ब्रह्म भुवन निकाय पति माया धनी ।
अवतरेउ अपने भगत हित निजतंत्र नित रघुकुलमनी ॥

अर्थात् 'मुनि, धीर, योगी और सिद्ध पुरुष निर्मल मनसे निरन्तर जिनका ध्यान करते हैं; वेद, पुराण और शास्त्र नेति-नेति कहकर

जिनकी कीर्ति गाते हैं, वे ही सर्वव्यापक, अखिल ब्रह्माण्डके स्वामी, मायापति, पूर्णब्रह्म, रघुकुलमणि श्रीराम अपने भक्तोंके हितके लिये अपनी इच्छासे अवतरित हुए हैं।'

भगवान्‌के अवतारका एक हेतु है जीवोंको सहज ही भवसागरसे पार उतार देना। भगवान् अवतार लेकर ऐसी लीलाएँ करते हैं, जिनको गा-गाकर, सुन-सुनकर लोग सहज ही भव-सागरसे तर जाते हैं। भगवान्‌की इस इच्छामें भी भक्तोंकी इच्छा ही कारण होती है।

सुद्ध सच्चिदानंदमय कंद भानुकुल केतु।
चरित करत नर अनुहरत संसृति सागर सेतु॥

अर्थात् शुद्ध (प्रकृतिजन्य त्रिगुणोंसे रहित, मायातीत दिव्य-मङ्गल-विग्रह) सच्चिदानन्दकन्दस्वरूप, सूर्यकुलके ध्वजारूप भगवान् श्रीरामचन्द्रजी मनुष्योंके सदृश ऐसे चरित्र करते हैं, जो संसाररूपी समुद्रके पार उतरनेके लिये पुलके समान हैं।

प्र०—अच्छा, यह बात तो समझमें आ गयी कि भगवान्‌के अवतारका प्रयोजन भक्तोंपर अनुग्रह करना और लोगोंको भव-सागरसे तारना ही है, और वे किसी कर्मके वश भी नहीं हैं; परंतु दशरथ-जीके यहाँ उनका जन्म हुआ था और कुछ कालके पश्चात् उनका देहत्याग भी हो गया। इसलिये उनका जन्म-मरण तो होता ही है; फिर जन्म नहीं है, यह कैसे कहा जाता है?

उ०-भाई! उनका जन्म-मरण-सा दीख तो सकता है; परंतु वे नित्य, अजन्मा और अविनाशी हैं। इससे वास्तवमें हमलोगों-जैसा उनका जन्म-मरण नहीं होता। उनका तो आविर्भाव और अन्तर्धान

होता है। जैसे कोई योगी अपनी इच्छासे जब चाहे तब अपने योगबलद्वारा प्रकट हो जाता है और मनमें आते ही छिप जाता है, वैसे ही भगवान् अपनी स्वरूपभूता योगमायाको लेकर स्वेच्छानुसार प्रकट हो जाते हैं और फिर अन्तर्हित हो जाते हैं। यही उनका 'जन्म-मरण' है। योगीका उदाहरण भी वस्तुतः भगवान्के साथ लागू नहीं होता। उनका आविर्भाव-तिरोधान अनन्यसाधारण ही होता है। जो स्वरूपसे ही अजन्मा और अविनाशी हैं, उनका जन्म और मरण हमारी बुद्धिसे बाहरकी बात है। इसीसे गीतामें श्रीभगवान्ने कहा है कि 'मेरे दिव्य जन्म-कर्मको तत्त्वतः जाननेवाला देह छोड़नेपर पुनर्जन्म नहीं पाता, वह मुझको प्राप्त होता है।' जिनके जन्मके रहस्यको जाननेमात्रसे जीवका जन्म होना छूट जाता है, उनका जन्म कितना विलक्षण होगा !

रही देह-ग्रहण और देह-पातकी बात, सो कहीं-कहीं तो वे ऐसी लीला करते हैं, जिससे मायादेहका ग्रहण-त्याग दीखता ही नहीं। वे जिस रूपमें प्रकट होते हैं, उसी रूपमें अन्तर्हित हो जाते हैं—जैसे रामायण और भागवतके वर्णनानुसार भगवान् दिव्य चतुर्भुज बालकके रूपमें प्रकट होते हैं, योनिद्वारसे उनका जन्म नहीं होता; और फिर वे समय आनेपर सदेह ही दिव्य लोकमें चले जाते हैं, यहाँ उनका कोई शरीर नहीं रह जाता। इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं ऐसा भी होता है कि वे दिव्य देहसे तो अन्तर्धान हो जाते हैं, परंतु लोगोंको दिखानेके लिये माया-देहका निर्माण करके उसे छोड़ जाते हैं। महाभारत, पद्मपुराण आदिमें भगवान्की जिस देहके छोड़नेकी बात आती है, वह ऐसी ही देह है।

कभी सुखी नहीं हो सकती। पिता, माता, भाई और पुत्र आदि जो कुछ सुख देते हैं, वह परिमित होता है और केवल इसी लोकके लिये होता है; परंतु पति तो मोक्षरूप अपरिमित सुखका दाता है, अतएव ऐसी कौन दुष्टा स्त्री है, जो अपने पतिकी सेवा न करे ?'

जब राम वनको चले जाते हैं और महाराज दशरथ दुखी होकर कौसल्याके भवनमें आते हैं, तब आवेशमें आकर वह उन्हें कुछ कठोर वचन कह बैठती है, इसके उत्तरमें जब दुखी महाराज आर्त्तभावसे हाथ जोड़कर कौसल्यासे क्षमा माँगते हैं, तब तो कौसल्या भयभीत होकर अपने कृत्यपर बड़ा भारी पश्चात्ताप करती है, उसकी आँखोंसे निर्झरकी तरह आँसू बहने लगते हैं और वह महाराजके हाथ पकड़ उन्हें अपने मस्तकपर रख घबराहटके साथ कहती है– 'नाथ! मुझसे बड़ी भूल हुई, मैं धरतीपर सिर टेककर प्रार्थना करती हूँ। आप मुझपर प्रसन्न होइये। मैं पुत्र-वियोगसे पीड़िता हूँ, आप क्षमा कीजिये। देव! आपको जब मुझ दासीसे क्षमा माँगनी पड़ी, तब मैं आज पातिव्रत-धर्मसे भ्रष्ट हो गयी हूँ। आज मेरे शीलपर कलङ्क लग गया है। अब मैं क्षमाके योग्य नहीं रही, मुझे अपनी दासी जानकर उचित दण्ड दीजिये। अनेक प्रकारकी सेवाओंके द्वारा प्रसन्न करने योग्य बुद्धिमान् स्वामी जिस स्त्रीको प्रसन्न करनेके लिये बाध्य होता है, उस स्त्रीके लोक-परलोक दोनों नष्ट हो जाते हैं। स्वामिन्! मैं धर्मको जानती हूँ, आप सत्यवादी हैं, यह भी मैं जानती हूँ। मैंने जो कुछ कहा सो पुत्र-शोककी अतिशय पीड़ासे घबराकर कहा है।' कौसल्याके इन वचनोंसे राजाको कुछ सान्त्वना हुई और उनकी आँख लग गयी।

उपर्युक्त अवतरणोंसे यह पता लगता है कि कौसल्या पातिव्रत-धर्मके पालनमें बहुत ही आगे बढ़ी हुई थी। स्त्रियोंको इस प्रसङ्गसे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

कर्तव्यनिष्ठा

दशरथजी रामके वियोगमें व्याकुल हैं, खान-पान छूट गया है, मृत्युके चिह्न प्रत्यक्ष दीख पड़ने लगे हैं, नगर और महलोंमें हाहाकार मचा हुआ है, ऐसी अवस्थामें धीरज धारण कर अपने दुःखको भुला श्रीरामकी माता कौसल्या, जिसका प्राणाधार पुत्र वधूसहित वनवासी हो चुका है, अपने उत्तरदायित्व और कर्तव्यको समझती हुई महाराजसे कहती है—

नाथ समुझि मन करिअ बिचारू। राम बियोग पयोधि अपारू॥
करनधार तुम्ह अवध जहाजू। चढ़ेउ सकल प्रिय पथिक समाजू॥
धीरजु धरिअ त पाइअ पारू। नाहिं त बूड़िहि सबु परिवारू॥
जौं जियँ धरिअ बिनय पिय मोरी। रामु लखनु सिय मिलहिं बहोरी॥

धन्य! रामजननी देवी कौसल्या ऐसी अवस्थामें तुम्हीं ऐसे आदर्श वचन कह सकती हो, धन्य तुम्हारे धैर्य, साहस, पातिव्रत, विश्वास और तुम्हारी आदर्श कर्तव्यनिष्ठाको!

वधू-प्रेम

कौसल्याको अपनी पुत्र-वधू सीताके प्रति कितना वात्सल्य-प्रेम था, इसका दिग्दर्शन नीचेके कुछ शब्दोंसे होता है, जब सीताजी रामके साथ वन जाना चाहती हैं, तब रोती हुई कौसल्या कहती है—

मैं पुनि पुत्रबधू प्रिय पाई। रूप रासि गुन सील सुहाई॥
नयन पुतरि करि प्रीति बढ़ाई। राखेउँ प्रान जानकिहिं लाई॥
पलँग पीठ तजि गोद हिंडोरा। सियँ न दीन्ह पगु अवनि कठोरा॥
जिअनमूरि जिमि जोगवत रहऊँ। दीप बाति नहिं टारन कहऊँ॥

जब सुमन्त श्रीसीता-राम-लक्ष्मणको वनमें छोड़कर अयोध्या आता है, तब कौसल्या अनेक प्रकार चिन्ता करती हुई पुत्रवधूका कुशल-समाचार पूछती है। फिर जब चित्रकूटमें सीताको देखती है, तब बड़ा ही दुःख करती हुई कहती है—'बेटी! धूपसे सूखे हुए कमलके समान, मसले हुए कुमुदके समान, धूलसे लिपटे हुए सोनेके समान और बादलोंसे छिपाये हुए चन्द्रमाके समान तेरा यह मलिन मुख देखकर मेरे हृदयमें जो दुःखरूपी अरणीसे उत्पन्न शोकाग्नि है, वह मुझे जला रही है।'

यदि आज सभी सासोंका बर्ताव पुत्रवधुओंके साथ ऐसा हो जाय तो घर-घरमें सुखका स्रोत बहने लगे।

राम-भरतमें समानभाव और प्रजाहित

कौसल्या राम और भरतमें कोई अन्तर नहीं मानती थी। उसका हृदय विशाल था। जब भरतजी ननिहालसे आते हैं और अनेक प्रकारसे विलाप करते हुए एवं अपनेको धिक्कारते हुए, सारे अनर्थोंका कारण अपनेको मानते हुए जब माता कौसल्याके सामने फूट-फूटकर रोने लगते हैं, तब माता सहसा उठकर आँसू बहाती हुई भरतको हृदयसे लगा लेती है और ऐसा मानती है मानो राम ही लौट आये। उस समय शोक और स्नेह उसके हृदयमें नहीं

समाता, तथापि वह बेटे भरतको धीरज बँधाती हुई कोमल वाणीसे कहती है—

अजहुँ बच्छ बलि धीरज धरहू। कुसमउ समुझि सोक परिहरहू॥
जनि मानहु हियँ हानि गलानी। काल करम गति अघटित जानी॥

× × × ×

राम प्रानहु तें प्रान तुम्हारे। तुम्ह रघुपतिहि प्रानहु तें प्यारे॥
बिधु बिष चवै स्रवै हिमु आगी। होइ बारिचर बारि बिरागी॥
भएँ ग्यानु बरु मिटै न मोहू। तुम्ह रामहि प्रतिकूल न होहू॥
मत तुम्हार यहु जो जग कहहीं। सो सपनेहुँ सुख सुगति न लहहीं॥
अस कहि मातु भरतु हियँ लाए। थन पय स्रवहिं नयन जल छाए॥

कैसे आदर्श वाक्य हैं! रामकी माता ऐसी न हो तो और कौन हो?

महाराजकी दाहक्रियाके उपरान्त जब वसिष्ठजी और नगरके लोग भरतको राजगद्दीपर बैठाना चाहते हैं और जब भरत किसी प्रकार भी नहीं मानते, तब माता कौसल्या प्रजाके सुखके लिये धीरज धरकर कहती है—

× × × । पूत पथ्य गुर आयसु अहई॥
सो आदरिअ करिअ हित मानी। तजिअ बिषादु काल गति जानी॥
बन रघुपति सुरपति नरनाहू। तुम्ह एहि भाँति तात कदराहू॥
परिजन प्रजा सचिव सब अंबा। तुम्हही सुत सब कहँ अवलंबा॥
लखि बिधि बाम कालु कठिनाई। धीरजु धरहु मातु बलि जाई॥
सिर धरि गुर आयसु अनुसरहू। प्रजा पालि परिजन दुखु हरहू॥

प्रजाहितका इतना ध्यान श्रीराम-माताको होना ही चाहिये। माताने रामके वन जाते समय भी कहा था 'मुझे इस बातका तनिक भी दुःख नहीं है कि रामको राज्यके बदले आज वन मिल रहा है,

मुझे तो इसी बातकी चिन्ता है कि रामके बिना महाराज दशरथ, पुत्र भरत, और प्रजाको महान् क्लेश होगा—

राजु देन कहि दीन्ह बनु मोहि न सो दुख लेसु।
तुम्ह बिनु भरतहि भूपतिहि प्रजहि प्रचंड कलेसु॥

पुत्र-प्रेम

कौसल्याकी पुत्रवत्सलता आदर्श है। रामके वनवाससे कौसल्याको प्राणान्त क्लेश है, परंतु प्यारे पुत्र श्रीरामकी धर्मरक्षाके लिये कौसल्या उन्हें रोकती नहीं, वरं कहती है—

न शक्यसे वारयितुं गच्छेदानीं रघूत्तम।
शीघ्रं च विनिवर्त्तस्व वर्तस्व च सतां क्रमे॥
यं पालयसि धर्मं त्वं प्रीत्या च नियमेन च।
स वै राघवशार्दूल धर्मस्त्वामभिरक्षतु॥
(वा० रा० २। २५। २-३)

'बेटा! मैं तुझे इस समय वन जानेसे रोक नहीं सकती। तू जा और शीघ्र ही लौटकर आ। सत्पुरुषोंके मार्गका अनुसरण करता रह। तू प्रेम और नियमके साथ जिस धर्मका पालन कर रहा है वह धर्म ही तेरी रक्षा करे।' इस प्रकार धर्मपर दृढ़ रहने और महात्माओंके सन्मार्गका अनुसरण करनेकी शिक्षा देती हुई माता पुत्रकी मङ्गलरक्षा करती है और कहती है—

पितु बनदेव मातु बनदेवी। खग मृग चरन सरोरुह सेवी॥
अंतहुँ उचित नृपहि बनबासू। बय बिलोकि हियँ होइ हराँसू॥

कर्तव्यपरायणा धर्मशीला त्यागमूर्ति माता कौसल्या इस प्रकार पुत्रको सहर्ष वनमें भेज देती है। वियोगके दावानलसे हृदय दग्ध

हो रहा है परंतु पुत्रके धर्मकी टेक और उसकी हर्ष-शोकरहित सुख-दुःख-शून्य आनन्दमयी मञ्जुल मूर्तिकी ओर देख-देखकर अपनेको गौरवान्वित समझती है। यह है सच्चा प्रेम! यहाँ मोहको तनिक भी गुंजाइश नहीं! भरतजीके सामने कौसल्या गौरवके साथ प्यारे पुत्र श्रीरामकी प्रशंसा करती हुई कहती है—'बेटा! महाराजने तेरे बड़े भाई रामको राज्यके बदले वनवास दे दिया, परंतु इससे रामके मुखपर कुछ भी म्लानता नहीं आयी—

पितु आयस भूषन बसन तात तजे रघुबीर।
बिसमउ हरषु न हृदयँ कछु पहिरे बलकल चीर॥
मुख प्रसन्न मन रंग न रोषू। सब कर सब बिधि करि परितोषू॥
चले बिपिन सुनि सिय सँग लागी। रहइ न राम चरन अनुरागी॥
सुनतहिं लखनु चले उठि साथा। रहहिं न जतन किए रघुनाथा॥
तब रघुपति सबही सिरु नाई। चले संग सिय अरु लघु भाई॥

यह सब होनेपर भी माताका हृदय पुत्रका मधुर मुखड़ा देखनेके लिये निरन्तर व्याकुल है। चौदह साल बड़ी ही कठिनतासे श्रीरामके ध्रुव सत्य वचनोंकी आशापर बीतते हैं। लङ्का विजयकर श्रीराम जब अयोध्या लौटते हैं और जब माताको यह समाचार मिलता है, तब वह सुनते ही इस प्रकार दौड़ती है, जैसे गाय बछड़ेके लिये दौड़ा करती है—

कौसल्यादि मातु सब धाई। निरखि बच्छ जनु धेनु लवाई॥
जनु धेनु बालक बच्छ तजि गृहँ चरन बन परबस गई।
दिन अंत पुर रुख स्रवत थन हुंकार करि धावत भई॥

बहुत दिनोंके बाद पुत्रका मुख देखकर कौसल्याके प्रेम-समुद्रकी मर्यादा टूट जाती है, वह पुत्रको हृदयसे लगाकर बार-बार सिर

सूँघती है तथा कोमल मस्तक और मुखमण्डलपर हाथ फेरती एवं टकटकी लगाकर देखती हुई मनमें बहुत ही आश्चर्य करती है कि मेरे इस कलके कुसुम-कोमल कमनीय शिशुने रावण-जैसे प्रबल पराक्रमीको कैसे मारा होगा। मेरे राम-लक्ष्मण तो बड़े ही सुकुमार हैं, ये महाबली राक्षसोंसे कैसे जीते होंगे?

कौसल्या पुनि पुनि रघुबीरहि। चितवति कृपासिंधु रनधीरहि॥
हृदयँ बिचारति बारहिं बारा। कवन भाँति लंकापति मारा॥
अति सुकुमार जुगल मेरे बारे। निसिचर सुभट महाबल भारे॥

माता! क्या तुम इस बातको भूल गयीं कि ये तुम्हारे 'सुकुमार बारे बालक' लीलासंकेतसे ही त्रिभुवनको बनाने-बिगाड़नेवाले हैं। इन्हींकी मायासे सब कुछ हो रहा है। ये तो तुम्हारे प्रेमके कारण तुम्हारे यहाँ पुत्ररूपसे प्रकट होकर जगत्‌का कल्याण करते हुए तुम्हें सुख पहुँचा रहे हैं। माता तुम धन्य हो!

कौसल्याको अपने धर्मपालनका फल मिलता है, उसका शेष जीवन सुखमय बीतता है और अन्तमें वह श्रीरामके द्वारा तत्त्वज्ञान प्राप्तकर—

रामं सदा हृदि ध्यात्वा छित्त्वा संसारबन्धनम्।
अतिक्रम्य गतीस्तिस्रोऽप्यवाप परमां गतिम्॥

हृदयमें सर्वदा श्रीरामका ध्यान करनेसे संसार-बन्धनको छिन्न कर, सात्त्विक, राजस, तामस तीनों गतियोंको लाँघकर परमपदको प्राप्त हो जाती है!

भक्तिमयी सुमित्रा देवी

जो केवल इसीलिये गर्भ-धारण करती हैं और इसीलिये पुत्र-प्रसव करती हैं कि उनका पुत्र माता-पिता, सुख-सम्पत्ति, विलास-यौवन, घर-परिवार, नव-विवाहिता पत्नी—सभीके मोहको तृणवत् त्यागकर स्वेच्छासे ही विराग, तपस्या एवं संयमको स्वीकार करके केवल भगवान्‌की ही सेवा करे। भगवान्‌की सेवा ही जिसके जीवनका एकमात्र लक्ष्य हो और जो भगवान्‌की सेवामें ही अपनेको खपा दे—ऐसी परम सौभाग्यवती लक्ष्मण-शत्रुघ्न-जननी सुमित्रा-सरीखी माताएँ जगत्‌में बिरली ही होती हैं। भगवान् श्रीरामचन्द्र जब वन जाने लगे और जब श्रीरामजीके आदेशसे एकमात्र रामको परम वस्तु माननेवाले लक्ष्मणजी माता सुमित्रासे आज्ञा माँगने गये, उस समय उस विशालहृदया यथार्थजननी मङ्गलमयी माताने जो कुछ कहा उसमें भक्ति, प्रीति, त्याग, बलिदान, समर्पण, नारी-जीवनकी सफलता, पुत्रका स्वरूप—सभीका परम श्रेष्ठ सार आ गया है। माताका वह उपदेश यदि जगत्‌की सभी माताओंके लिये आदर्श बन जाय तो यही जगत् वैकुण्ठ बन सकता है। माता सुमित्रा कहती हैं—

तात तुम्हारि मातु बैदेही। पिता रामु सब भाँति सनेही॥
अवध तहाँ जहँ राम निवासू। तहँइँ दिवसु जहँ भानु प्रकासू॥
जौं पै सीय रामु बन जाहीं। अवध तुम्हार काजु कछु नाहीं॥
गुर पितु मातु बंधु सुर साईं। सेइअहिं सकल प्रान की नाईं॥
रामु प्रानप्रिय जीवन जी के। स्वारथ रहित सखा सबही के॥
पूजनीय प्रिय परम जहाँ तें। सब मानिअहिं राम के नातें॥
अस जियँ जानि संग बन जाहू। लेहु तात जग जीवन लाहू॥

भूरि भाग भाजनु भयहु मोहि समेत बलि जाउँ।
जौं तुम्हरें मन छाड़ि छलु कीन्ह राम पद ठाउँ॥

पुत्रवती जुबती जग सोई। रघुपति भगतु जासु सुतु होई॥
नतरु बाँझ भलि बादि बिआनी। राम बिमुख सुत तें हित जानी॥
तुम्हरेहिं भाग रामु बन जाहीं। दूसर हेतु तात कछु नाहीं॥
सकल सुकृत कर बड़ फलु एहू। राम सीय पद सहज सनेहू॥
रागु रोषु इरिषा मदु मोहू। जनि सपनेहुँ इन्ह के बस होहू॥
सकल प्रकार बिकार बिहाई। मन क्रम बचन करेहु सेवकाई॥
तुम्ह कहुँ बन सब भाँति सुपासू। सँग पितु मातु रामु सिय जासू॥
जेहिं न रामु बन लहहिं कलेसू। सुत सोइ करेहु इहइ उपदेसू॥

'बेटा! जानकीजी तुम्हारी माता हैं और सब प्रकारसे स्नेह करनेवाले श्रीरामचन्द्रजी तुम्हारे पिता हैं! जहाँ श्रीरामजीका निवास हो वहीं अयोध्या है। जहाँ सूर्यका प्रकाश हो वहीं दिन है। यदि निश्चय ही सीता-राम वनको जाते हैं तो अयोध्यामें तुम्हारा कुछ भी काम नहीं है। गुरु, पिता, माता, भाई, देवता, स्वामी—इन सबकी सेवा प्राणके समान करनी चाहिये। फिर श्रीरामचन्द्रजी तो प्राणोंके भी प्रिय हैं, हृदयके भी जीवन हैं और सभीके स्वार्थरहित सखा हैं। जगत्में जहाँतक पूजनीय और परम प्रिय लोग हैं, वे

सब रामजीके नातेसे ही [पूजनीय और परमप्रिय] मानने योग्य हैं। हृदयमें ऐसा जानकर, बेटा! उनके साथ वन जाओ और जगत्‌में जीनेका लाभ उठाओ। मैं बलिहारी जाती हूँ, [हे पुत्र!] मेरे समेत तुम बड़े ही सौभाग्यके पात्र हुए, जो तुम्हारे चित्तने छल छोड़कर श्रीरामके चरणोंमें स्थान प्राप्त किया है। संसारमें वही युवती स्त्री पुत्रवती है, जिसका पुत्र श्रीरघुनाथजीका भक्त हो। नहीं तो, जो रामसे विमुख पुत्रसे अपना हित मानती है, वह तो बाँझ ही अच्छी। पशुकी भाँति उसका ब्याना (पुत्र प्रसव करना) व्यर्थ ही है। तुम्हारे ही भाग्यसे श्रीरामजी वनको जा रहे हैं। हे तात! दूसरा कोई कारण नहीं है। सम्पूर्ण पुण्योंका सबसे बड़ा फल यही है कि श्रीसीतारामजीके चरणोंमें स्वाभाविक प्रेम हो। राग, रोष, ईर्ष्या, मद और मोह—इनके वश स्वप्नमें भी मत होना। सब प्रकारके विकारोंका त्याग कर मन, वचन और कर्मसे श्रीसीतारामजीकी सेवा करना। तुमको वनमें सब प्रकारसे आराम है, जिसके साथ श्रीरामजी और सीताजीरूप पिता-माता हैं। पुत्र! तुम वही करना जिससे श्रीरामचन्द्रजी वनमें क्लेश न पावें, मेरा यही उपदेश है।'

सिद्धान्त तथा उपदेशका उपहास करती हुई माता अन्तमें आशीर्वाद देती हुई कहती हैं—

उपदेसु यहु जेहिं तात तुम्हरे राम सिय सुख पावहीं।
पितु मातु प्रिय परिवार पुर सुख सुरति बन बिसरावहीं॥
तुलसी प्रभुहि सिख देइ आयसु दीन्ह पुनि आसिष दई।
रति होउ अबिरल अमल सिय रघुबीर पद नित नित नई॥

'बेटा! मेरा यही उपदेश है (अर्थात् तुम वही करना) जिससे वनमें तुम्हारे कारण श्रीरामजी और श्रीसीताजी सुख पावें और पिता, माता, प्रिय परिवार तथा नगरके सुखोंकी याद भूल जायँ। तुलसी

दासजी कहते हैं कि सुमित्राजीने इस प्रकार हमारे प्रभु (श्रीलक्ष्मण-जी) को सीख देकर (वन जानेकी) आज्ञा दी और फिर यह आशीर्वाद दिया कि श्रीसीताजी और श्रीरघुवीरजीके चरणोंमें तुम्हारा निर्मल (निष्काम और अनन्य) एवं प्रगाढ़ प्रेम नित नया-नया हो।' माताकी क्या सुन्दर आशीष है। धन्य है।

प्रिय पुत्र लक्ष्मणको रामकी सेवामें भेजकर ही माता निरस्त नहीं हो जाती,जब लक्ष्मणके शक्ति लगने और रण-भूमिमें मूर्च्छित होकर गिर जानेका संवाद मिलता है, तब वे अपनी कोखको सफल हुई मानकर उनका रोम-रोम प्रसन्नतासे खिल उठता है। पर साथ ही यह चिन्ता आ सताती है कि मेरे राम शत्रुओंमें अकेले रह गये—और शत्रुघ्नको वहाँ भेजनेके लिये निश्चय करके कहती हैं—'बेटा! हनुमान्के साथ जाओ।' माताका आदेश सुनते ही शत्रुघ्नजी हाथ जोड़कर खड़े हो जाते हैं और शरीरसे पुलकित होकर ऐसे प्रसन्न होते हैं मानो विधाताके विधानसे उनके पूरे दाव पड़ गये हों।

'तात ! जाहु कपिसँग', रिपुसूदन उठि कर जोरि खरे हैं।
प्रमुदित पुलकि पैंत पूरे जनु बिधिबस सुढर ढरे हैं॥

श्रीहनुमान्जीके विनय करने और आश्वासन देनेपर माता मानती हैं।

सचमुच ऐसी ही माता पुत्रवती हैं और ऐसी मातासे जन्म धारण करनेवाले ही वास्तवमें पुत्र हैं—इन माता-पुत्रोंके चरणोंमें कोटि कोटि नमस्कार!

श्रीलक्ष्मण और देवी उर्मिलाका महत्त्व

रामायणमें रामसेवाव्रती श्रीलक्ष्मणजीका, उनकी धर्मपत्नी श्रीउर्मिला-देवीजीका चरित्र बड़ा ही अनुपम है । लोग कहेंगे कि उर्मिलाके चरित्र-का तो रामायणमें कहीं वर्णन ही नहीं है, फिर वह अनुपम कैसे हो गया ? वास्तवमें उनके चरित्रके सम्बन्धमें कविका मौनावलम्बन ही चरित्रकी परम उच्चताका सूचक है । उनका चरित्र इतना महान् त्यागपूर्ण है कि कविकी लेखनी उसका चित्रण करनेमें अपनेको असमर्थ पाती है । सीताजी श्रीरामके साथ वन जानेके लिये आग्रह करती हैं और न ले जानेपर प्राण-परित्यागके लिये प्रस्तुत हो जाती हैं । यद्यपि ऐसा करना उनका अधिकार था और इसीलिये श्रीराम अपने पहले वचनोंको पलटकर उन्हें साथ ले गये । श्रीरामने जो सीताजीको घर-नैहरमें रहनेका उपदेश दिया था, सो तो लोक-शिक्षा, सती पतिव्रताके परम आदर्शकी स्थापना और पत्नीके प्रति पतिके कर्तव्यकी सत्-शिक्षाके लिये था । वास्तवमें सीताको श्रीरामजी वनमें ले जाना ही चाहते थे; क्योंकि उनके गये बिना रावण-

अपराधी नहीं होता और ऐसा हुए बिना उसकी मृत्यु असम्भव थी, जो अवतारधारणका एक प्रधान कार्य था । श्रीसीताजी साक्षात् जगन्नायिका और श्रीराम सच्चिदानन्दघन थे । वह उनसे अलग कभी रह ही नहीं सकती । केवल पातिव्रतकी बात होती तो सीताजी भी शायद् उर्मिलाकी भाँति अयोध्यामें रह जातीं । उर्मिला सीताजीकी छोटी बहिन थीं, परम पतिव्रता थीं । बड़ी बहिन सीताजी जैसे अपने स्वामी श्रीराममें अनुरक्ता और उनकी सेवाव्रतधारिणी थीं, वैसे ही उर्मिला भी थीं; वह भी सीताकी भाँति ही साथ जानेके लिये प्रेमाग्रह कर सकती थीं, परंतु उनके घर रहनेमें ही श्रीरामकाजमें सुविधा थी, जिसमें सेवक बनकर रहना उनके पतिका एकमात्र धर्म था और जिसमें उर्मिला पूर्ण सहमत और सहायक थी । इन्द्रजित् मेघनादको वरदान था कि जो महापुरुष लगातार बारह वर्षतक फल-मूल खायेगा, निद्राका त्याग करेगा और अखण्ड ब्रह्मचर्यका पालन करेगा, उसीके हाथोंसे मेघनादका मरण होगा । इसलिये जैसे रावण-वधमें कारण बननेके लिये सीताजीका श्रीराम-लीलामें सहयोगिनी बनकर वन जाना आवश्यक था, वैसे ही लक्ष्मणजीका भी रामलीलामें शामिल होनेके लिये तीव्र महाव्रत-पालनपूर्वक मेघनाद-वधके लिये वन जाना आवश्यक था और ठीक इसी तरह उर्मिलाजीको भी रामलीलाको सुचारुरूपसे सम्पन्न करानेके लिये ही, जो दम्पतिके जीवनका व्रत था, घरपर रहना आवश्यक था । उर्मिलाजी साथ जातीं, तब भी लक्ष्मणजीका महाव्रत पालन होना कठिन था और वे घरपर रहते तब तो कठिन था ही ।

यह बात श्रीलक्ष्मणजीने उर्मिलाजीको अवश्य समझा दी होगी या महान् विभूति होनेके कारण वे इस बातको समझती ही होंगी। इसीसे उन्होंने पतिके साथ जानेके लिये एक शब्द भी न कहकर आदर्श पातिव्रत-धर्मका वैसा ही पालन किया, जैसा श्रीसीताजीने साथ जानेके लिये प्रेमाग्रह करके किया था। घर रहनेमें ही पति श्रीलक्ष्मणजीका सेवाधर्म सम्पन्न होता है, जिन श्रीरामकी सेवाके लिये लक्ष्मणजी अवतीर्ण हुए थे, वह सेवाकार्य इसीमें सफल होता है। यह बात जाननेके बाद आदर्श पतिव्रता देवी उर्मिला कैसे कुछ कह सकती थीं? वे आजकलकी भाँति भोगकी भूखी तो थीं ही नहीं। पतिकी धर्मरक्षामें सहायक होना ही पत्नीका धर्म है, इस बातको वे खूब समझती थीं और यही उर्मिलाजीने किया।

लोग कहते हैं कि 'लक्ष्मण बड़े निष्ठुर थे, राम तो सीताको साथ ले गये, परंतु लक्ष्मणने तो उर्मिलासे बाततक नहीं की।' पर वे क्या बात करते, वे इस बातको खूब जानते थे कि मेरा और मेरी पत्नीका एक ही धर्म है। मेरे धर्मपालनमें मङ्गलप्राणा कर्त्तव्य-परायणा प्रेममयी उर्मिलाको सदा ही बड़ा आनन्द है। वह धर्मके लिये सानन्द मेरा विछोह सह सकती है। जनकपुरसे ब्याहकर आनेके बाद बारह वर्षोंमें लक्ष्मणजीकी अनुगामिनी सती उर्मिलाने अपना रामसेवा-धर्म निश्चय कर लिया था, उसी निश्चयके अनुसार पतिको रामसेवामें भेजनेके लिये वीराङ्गना उर्मिला भी उसी प्रकार सम्मत और प्रसन्न थीं, जैसे लक्ष्मण-माता वीर-प्रसविनी देवी सुमित्रा-जी प्रसन्न थीं। धर्मपरायणा वीराङ्गनाएँ अपने पति-पुत्रोंको हँसते-हँसते रणाङ्गणमें भेजा ही करती हैं, वैसे ही यहाँ सुमित्रा और उर्मिलाने

भी किया। अवश्य ही उर्मिला कुछ बोली नहीं, परंतु यहाँ न तो बोलनेका अवकाश ही था और न धर्ममें नित्य हार्दिक सम्मति होनेके कारण बोलनेकी आवश्यकता ही थी तथा न मर्यादा ही ऐसी आज्ञा देती थी। सेवा-धर्ममें तत्पर निःस्वार्थ सेवकको तुरंत करनेयोग्य प्रबल मनचाहा सेवाकार्य सामने आ पड़नेपर सलाह-मशविरेके लिये न तो अवकाश ही रहता है और न उसकी सहधर्मिणी पत्नी भी इससे दुःख मानती है; क्योंकि वह अपने पतिकी स्थितिसे भलीभाँति परिचित होती है और उसके प्रत्येक त्यागपूर्ण महान् कार्यका अनुमोदन करना ही अपना धर्म समझती है।

एक बात और है, सेवक परतन्त्र होता है। स्वामी श्रीराम तो स्वतन्त्र थे, वे अपने साथ जानकीजीको ले गये। परंतु परतन्त्र सेवापरायण लक्ष्मण भी यदि उर्मिलाको साथ ले जाना चाहते तो यह अनुचित होता, उन्हें रामजीकी सम्मति लेनी पड़ती, जहाँ वनमें श्रीरामजी सीताजीको साथ ले जानेमें ही आपत्ति करते थे, वहाँ उर्मिलाको साथ ले जानेमें कैसे सहमत होते। जो कार्य स्वामीकी रुचिके प्रतिकूल हो, उसकी कल्पना भी सच्चे सेवकके चित्तमें उत्पन्न नहीं हो सकती। इसी प्रकार पतिकी रुचिके प्रतिकूल कल्पना सती पतिव्रता पत्नीके हृदयमें नहीं उठ सकती। उर्मिला परम पतिव्रता थीं, लक्ष्मण उनको जानते थे। धर्मपालनमें उनकी चिरसम्मति उन्हें प्राप्त थी। एक बात यह भी है कि लक्ष्मणजी सेवाके लिये वन जाना चाहते थे, सैरके लिये नहीं। पत्नीको साथ ले जानेसे उसकी देखभालमें भी इनका समय जाता तथा दो स्त्रियोंके सँभालनेका

भार श्रीरामपर पड़ता। सेवक अपने स्वामीको संकोचमें कभी नहीं डाल सकता, लक्ष्मणजी और उर्मिलाजी दोनों ही इस बातको जरूर समझते थे। अतएव उन्होंने कोई निष्ठुरताका बर्ताव नहीं किया, प्रत्युत इसीमें लक्ष्मणजी और उर्मिलाजी दोनोंकी सच्ची महिमा है।

वनवासमें श्रीलक्ष्मणजीके व्रतपालनका महत्त्व देखिये। वे दिन-रात श्रीसीतारामके पास रहते हैं। कन्द-मूल-फल ला देना, पूजाकी सामग्री जुटा देना, आश्रमको झाड़ना-बुहारना, वेदिकापर चौका लगा देना, श्रीसीता-रामकी रुचिके अनुसार उनकी हर प्रकारकी सेवा करना और दिन-रात सजग रहकर वीरासनसे बैठे, राममें मन लगाये, राम-नाम जपते हुए पहरा देना ही उनका कार्य है। वे अपने कार्यमें बड़े ही तत्पर हैं। ब्रह्मचर्यव्रतका पता तो इसीसे लग जाता है कि माता सीताकी सेवामें सदा प्रस्तुत रहनेपर भी उन्होंने उनके चरणोंको छोड़कर अन्य किसी अङ्गका कभी दर्शन नहीं किया। यह बात इसीसे सिद्ध है कि लक्ष्मणजी सीताजीके गहनोंको पहचान नहीं सके। जब रावण श्रीसीताजीको आकाशमार्गसे ले जा रहा था, तब उन्होंने पहाड़पर बैठे हुए वानरोंके दलमें कुछ गहने डाल दिये थे। श्रीराम-लक्ष्मण सीताको खोजते हुए जब हनुमान्‌जीकी प्रेरणासे सुग्रीवके पास पहुँचे, तब सुग्रीवने श्रीरामको वे गहने दिखलाये। श्री-रामके पूछनेपर लक्ष्मणजी बोले—

नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुण्डले।
नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात्॥
(वा० रा० ४। ६। २२)

'स्वामिन् ! मैं इन केयूर और कुण्डलोंको नहीं पहचानता । मैंने तो प्रतिदिन चरणवन्दनके समय माताजीके नूपुर देखे हैं, अतः उन्हें पहचान सकता हूँ ।' आजकलके देवरोंको इससे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये । श्रीलक्ष्मणजीके इस महान् व्रतपर श्रीरामका बड़ा भारी विश्वास था, इस बातका पता इसीसे लगता है कि वे मर्यादा-पुरुषोत्तम होनेपर भी लक्ष्मणजीके साथ सीताजीको अकेले बेधड़क छोड़ देते थे । जब खर-दूषण भगवान्‌के साथ युद्धके लिये आये थे, तब श्रीरामने जानकीजीको लक्ष्मणजीकी संरक्षकतामें एकान्त गिरिगुहामें भेज दिया था—

'राम बोलाइ अनुज सन कहा'—'लै जानकिहि जाहु गिरिकंदर।'

मायामृगको मारनेके समय भी सीताके पास आप लक्ष्मणजीको छोड़ गये थे और निर्वासनके समय भी लक्ष्मणजीको ही सीताके साथ भेजा था ।

लक्ष्मणजीका सेवा-व्रत तपपूर्ण था । उन्होंने बारह सालतक लगातार श्रीरामसेवामें रहकर कठिन तपस्या की । इसी कारण वे मेघ-नादको मारकर राम-काजमें सहायक बन सके थे । तपस्यामें उनका उद्देश्य भी यही था, क्योंकि वे श्रीरामको छोड़कर दूसरी बात न तो जानते थे और न जानना चाहते ही थे । उन्होंने स्वयं कहा है—

गुर पितु मातु न जानउँ काहू । कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू ॥
जहँ लगि जगत सनेह सगाई । प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई ॥
मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी । दीनबंधु उर अंतरजामी ॥
धरम नीति उपदेसिअ ताही । कीरति भूति सुगति प्रिय जाही ॥

श्रीशत्रुघ्नजी

महामना श्रीशत्रुघ्नजी भगवान् श्रीरामचन्द्र, भरत, लक्ष्मण तीनोंसे छोटे थे। श्रीसुमित्राजीके पुण्यवान् पुत्र थे। इनके सम्बन्धमें रामायणमें जो कुछ वर्णन आया है, उससे यही पता लगता है कि श्रीशत्रुघ्नजी बहुत थोड़ा बोलनेवाले, अत्यन्त तेजस्वी, वीर, सेवापरायण, रामदासानुदास, चुपचाप काम करनेवाले, सच्चे सत्पुरुष थे। श्रीलक्ष्मण और श्रीशत्रुघ्न दोनों ही भाइयोंने अपना जीवन परम पवित्र सेवामें बिताया, परंतु लक्ष्मणकी सेवासे भी शत्रुघ्नकी सेवाका महत्त्व एक प्रकारसे अधिक है। श्रीलक्ष्मण श्रीरामके सेवक हैं; परंतु शत्रुघ्न तो श्रीराम-सेवक भरतजीके चरण-सेवक और साथी हैं। छायाकी भाँति उनके साथ रहते और चुपचाप आज्ञानुसार सेवा किया करते हैं।

ये बड़े संकोची हैं, अपनी ओरसे कभी किसी कामके बीचमें नहीं बोलते। किसीपर क्रोध नहीं करते, अपनी ओरसे आगे होकर कुछ भी नहीं करते। सेवकोंके सेवकका यही तो धर्म है।

श्रीशत्रुघ्नजीके अपनी ओरसे बोलनेके विशेष अवसर दो मिलते हैं। प्रथम, जब श्रीभरतजी ननिहालसे आकर माता कैकेयीसे मिलते हैं और कैकेयी पाषाण-हृदया बनकर महाराज दशरथकी मृत्यु और श्रीराम-लक्ष्मणके वन जानेका विवरण सुनाती है और कहती है कि 'बेटा! यह सब मैंने तेरे ही लिये किया है—

तात बात मैं सकल सँवारी। भै मंथरा सहाय बिचारी॥

तब भरत शोकाकुल होकर विलाप करते और आवेशमें आकर माताको भला-बुरा कहने लगते हैं। शत्रुघ्न भी माताकी कुटिलतापर अत्यन्त क्षुब्ध हैं, शरीरमें आग लग रही है, परंतु उनका तो बोलनेका कुछ अधिकार है ही नहीं।

सुनि सत्रुघुन मातु कुटिलाई। जरहिं गात रिस कछु न बसाई॥

इसी समय कुबरी मन्थरा सजधजकर वहाँ आती है। वह भरतको अपनी ही प्रकृतिके अनुसार स्वार्थी और राज्यलोभी समझती है। वह समझती है कि भरतके लिये राज्यका सारा सामान मैंने ही बनाया है, वह मुझे इनाम देगा, इसीलिये बनठन कर आती है।

हँसती-उछलती सजी-धजी कुबरीको देखकर शत्रुघ्नजी क्रोधको नहीं सम्हाल सके—

लखि रिस भरेउ लखन लघु भाई। बरत अनल घृत आहुति पाई॥
हुमगि लात तकि कूबर मारा। परि मुह भर महि करत पुकारा॥

कूबर टूटेउ फूट कपारू। दलित दसन मुख रुधिर प्रचारू॥
सुनि रिपुहन लखि नखसिख खोटी। लगे घसीटन धरि धरि झोंटी॥

उपयुक्त इनाम मिल गया। दयामय भरतजीने मन्थराको छुड़ा दिया।

दूसरे, श्रीराम अयोध्याके सिंहासनपर आसीन हैं, तीनों भाई सेवा और धर्मयुक्त शासनमें सहायता करते हैं। एक समय तपस्वियोंने आकर श्रीरामचन्द्रसे लवणासुरके अत्याचारोंका वर्णन करते अपना दुखड़ा सुनाया और उसे मारनेके लिये प्रार्थना की। दुष्टदर्पहारी शिष्ट-रक्षक भगवान् श्रीरामने उनकी प्रार्थना स्वीकार की और दरबारमें पूछा कि 'लवणासुरको वध करनेका श्रेय तुमलोगोंमें कौन लेना चाहते हैं? वहाँकी समृद्धिका अधिकारी कौन होना चाहते हैं। भरत या शत्रुघ्न?'

श्रीभरतने कहा कि 'मैं लवणासुरका वध कर सकता हूँ' इसपर शत्रुघ्नजीने प्रार्थना की कि 'प्रभो! श्रीभरतजी बहुत काम कर चुके हैं। आपके वनवासके समय इन्होंने अयोध्याका पालन किया, अनेक प्रकार दुःख सहे, नन्दीग्राममें कुशाकी शय्यापर सोये, फल-मूलका आहार किया, जटा रक्खी, वल्कल पहने, सब कुछ किया। अब मेरी प्रार्थना है कि मेरे रहते इन्हें युद्धके लिये न भेजकर मुझे ही आज्ञा दीजिये।'

शत्रुघ्नजीके इन वचनोंको सुनकर श्रीरामने उनका प्रस्ताव स्वीकार करते हुए कहा—'भाई, तुम्हीं जाकर दैत्यका वध करो, मैं तुम्हें मधुदैत्यके सुन्दर नगरका राजा बनाता हूँ।' श्रीराम जानते थे कि

शत्रुघ्न दुष्ट राक्षसका वध करना चाहते हैं, उन्हें राज्यका लोभ नहीं है। इसलिये पहलेसे ही कह दिया कि 'श्रीवशिष्ठ आदि ऋषि मन्त्र और विधिपूर्वक तुम्हारा अभिषेक करेंगे। मैं जो कुछ कहूँ सो तुम्हें स्वीकार करना चाहिये; क्योंकि बालकोंको गुरुजनोंकी आज्ञाका पालन करना ही उचित है।'

इसपर वीर्य-सम्पन्न श्रीशत्रुघ्नजी बड़े ही संकोचमें पड़कर धीरेसे कहने लगे—'महाराज! बड़े भाइयोंके रहते राजगद्दीपर बैठना मैं *अधर्म समझता हूँ, जब भरतजी महाराज लवणासुरको मारनेके लिये* कह रहे थे तब मुझे बीचमें नहीं बोलना चाहिये था। मेरा बीचमें बोलना ही मेरे लिये इस दुर्गतिका कारण हुआ। अब आपकी आज्ञा-का उल्लङ्घन करना भी मेरे लिये कठिन है; क्योंकि आपसे मैं यह धर्म कई बार सुन चुका हूँ।'

इसके बाद शत्रुघ्नजी लवणासुरपर चढ़ाई करते हैं, रास्तेमें श्रीवाल्मीकिजीके आश्रममें ठहरते हैं, उसी रातको सीताके दोनों कुमारोंका जन्म होता है, जिससे शत्रुघ्नको बड़ा हर्ष होता है। फिर जाकर लवणासुरका वध करके वहाँ बारह वर्ष रहकर श्रीराम-दर्शनार्थ लौटते हैं। आते समय पुनः श्रीवाल्मीकिके आश्रममें ठहरते हैं और लवकुशके द्वारा मुनि-रचित रामायणका गान सुनकर आनन्दमें लोट-पोट हो जाते हैं, अयोध्या आकर सबसे मिलते हैं, पुनः श्रीरामकी आज्ञासे मधुपुरी लौटकर धर्मपूर्वक शासन करते हैं।

इनके जीवनसे भी मर्यादाकी बड़ी शिक्षा मिलती है।

श्रीरामप्रेमी दशरथ महाराज

जिनके यहाँ भक्तिप्रेमवश साक्षात् सच्चिदानन्दघन प्रभु पुत्ररूपसे अवतीर्ण हुए, उन परमभाग्यवान् महाराज श्रीदशरथकी महिमाका वर्णन कौन कर सकता है? महाराज दशरथजी मनुके अवतार थे, जो भगवान्‌को पुत्ररूपसे प्राप्तकर अपरिमित आनन्दका अनुभव करनेके लिये ही धराधाममें पधारे थे और जिन्होंने अपने जीवनका परित्याग और मोक्ष-तकका संन्यास करके श्रीराम-प्रेमका आदर्श स्थापित कर दिया।

श्रीदशरथजी परम तेजस्वी मनुमहाराजकी भाँति ही प्रजाकी रक्षा करनेवाले थे। वे वेदके ज्ञाता, विशाल सेनाके स्वामी, दूरदर्शी, अत्यन्त प्रतापी, नगर और देशवासियोंके प्रिय, महान् यज्ञ करनेवाले, धर्मप्रेमी, स्वाधीन, महर्षियोंके सदृश सद्‌गुणोंवाले, राजर्षि, त्रैलोक्य-प्रसिद्ध पराक्रमी, शत्रुनाशक, उत्तम मित्रोंवाले, जितेन्द्रिय*, अतिरथी†,

---

* यद्यपि रामवनवासकी घटनाके कारण कहीं-कहीं दशरथजीको कामुक बतलाया गया है। परंतु ऐसी बात नहीं थी, वे यदि कामपरायण होकर कैकेयीके वशमें होते तो यज्ञपुरुषकी खीरका आधा भाग कौसल्याको और केवल अष्टमांश ही कैकेयीको नहीं देते। यद्यपि उन्होंने बहुविवाह किये थे, जो अवश्य ही आदर्श नहीं है, परंतु यह उस समयकी एक प्रथा-सी थी। भगवान् श्रीरामने इस प्रथाको तोड़कर आदर्श सुधार किया।

† जो दस हजार धनुर्धारियोंके साथ अकेला लड़ सकता है, उसे 'महारथी' कहते हैं और जो ऐसे दस हजार महारथियोंके साथ अकेला लोहा लेता है, वह 'अतिरथी' कहलाता है।

धनधान्यके संचयमें कुबेर और इन्द्रके समान, सत्यप्रतिज्ञ एवं धर्म, अर्थ तथा कामका शास्त्रानुसार पालन करनेवाले थे।

(वा० रा० १ । ६ । १ से ५ तक)

इनके मन्त्रिमण्डलमें महामुनि वशिष्ठ, वामदेव, सुयज्ञ, जाबालि, काश्यप, गौतम, मार्कण्डेय, कात्यायन, धृष्टि, जयन्त, विजय, सुराष्ट्र, राष्ट्रवर्धन, अकोप और धर्मपाल आदि विद्याविनयसम्पन्न, अनीतिमें लजानेवाले, कार्यकुशल, जितेन्द्रिय, श्रीसम्पन्न, पवित्र-हृदय, शास्त्रज्ञ, शस्त्रज्ञ, प्रतापी, पराक्रमी, राजनीतिविशारद, सावधान, राजाज्ञाका अनुसरण करनेवाले, तेजस्वी, क्षमावान्, कीर्तिमान्, हँसमुख, काम-क्रोध और लोभसे बचे हुए एवं सत्यवादी पुरुषप्रवर विद्यमान थे।

(वा० रा० १ । ७)

आदर्श राजा और मन्त्रिमण्डलके प्रभावसे प्रजा सब प्रकारसे धर्मरत, सुखी और सम्पन्न थी। महाराज दशरथकी सहायता देवता-लोग भी चाहते थे। महाराज दशरथने अनेक यज्ञ किये थे। अन्तमें पितृ-मातृ-भक्त श्रवणकुमारके वधका प्रायश्चित्त करनेके लिये अश्वमेध तदनन्तर ज्योतिष्टोम, आयुष्टोम, अतिरात्र, अभिजित्, विश्वजित् और आप्तोर्याम आदि यज्ञ किये। इन यज्ञोंमें दशरथने अन्यान्य वस्तुओंके अतिरिक्त दस लाख दुग्धवती गायें, दस करोड़ सोनेकी मुहरें और चालीस करोड़ चाँदीके रुपये दान दिये थे।

इसके बाद पुत्रप्राप्तिके लिये ऋष्यशृङ्गको ऋत्विज बनाकर राजा-ने पुत्रेष्टि यज्ञ किया, जिसमें समस्त देवतागण अपना-अपना भाग लेनेके लिये स्वयं पधारे थे। देवता और मुनि-ऋषियोंकी प्रार्थनापर

भगवान् श्रीविष्णुने दशरथके यहाँ पुत्ररूपसे अवतार लेना स्वीकार किया और यज्ञपुरुषने स्वयं प्रकट होकर पायसान्नसे भरा हुआ सुवर्ण-पात्र देते हुए दशरथसे कहा कि 'राजन्! यह खीर अत्यन्त श्रेष्ठ, आरोग्यवर्धक और प्रजाकी उत्पत्ति करनेवाली है। इसको अपनी कौसल्या आदि तीनों रानियोंको खिला दो।' राजाने प्रसन्न होकर मर्यादाके अनुसार कौसल्याको बड़ी समझकर उसे खीरका आधा भाग, मझली सुमित्राको चौथाई भाग और कैकेयीको आठवाँ भाग दिया। सुमित्राजी बड़ी थीं, इससे उनको सम्मानार्थ अधिक देना उचित था, इसीलिये बचा हुआ अष्टमांश राजाने फिर सुमित्राजीको दे दिया, जिस-से कौसल्याके श्रीराम, सुमित्राके (दो भागोंसे) लक्ष्मण और शत्रुघ्न एवं कैकेयीके भरत हुए। इस प्रकार भगवान्‌ने चार रूपोंसे अवतार लिया।

राजाको चारों ही पुत्र परमप्रिय थे, परंतु इन सबमें श्रीरामपर राजाका विशेष प्रेम था। होना ही चाहिये; क्योंकि इन्हींके लिये तो जन्म-धारणकर सहस्रों वर्ष प्रतीक्षा की गयी थी। वे रामका अपनी आँखोंसे क्षणभरके लिये भी ओझल होना नहीं सह सकते थे। जब विश्वामित्रजी यज्ञरक्षार्थ श्रीराम-लक्ष्मणको माँगने आये, उस समय श्रीरामकी उम्र पंद्रह वर्षसे अधिक थी, परंतु दशरथने उनको अपने पाससे हटाकर विश्वामित्रके साथ भेजनेमें बड़ी आनाकानी की। आखिर वशिष्ठके बहुत समझानेपर वे तैयार हुए। श्रीरामपर अत्यन्त प्रेम होनेका परिचय तो इसीसे मिलता है कि जबतक श्रीराम सामने रहे, तब तक प्राणोंको रक्खा और अपने वचन सत्य करनेके लिये, रामके बिछुड़ते ही राम-प्रेमानलमें अपने प्राणोंकी आहुति दे डाली।

श्रीरामके प्रेमके कारण ही दशरथ महाराजने राजा केकयके साथ शर्त हो चुकनेपर भी भरतके बदले श्रीरामको युवराज-पदपर अभिषिक्त करना चाहा था। अवश्य ही ज्येष्ठ पुत्रके अभिषेककी रघुकुलकी कुलपरम्परा एवं भरतके त्याग, आज्ञावाहकता, धर्मपरायणता, शील और रामप्रेम आदि सद्गुण भी राजाके इस मनोरथमें कारण और सहायक हुए थे। परंतु परमात्माने कैकेयीकी मति फेरकर एक ही साथ कई काम करा दिये। जगत्‌में आदर्श मर्यादा स्थापित हो गयी, जिसके लिये श्रीभगवान्‌ने अवतार लिया था। इनमें निम्नलिखित १२ आदर्श मुख्य हैं—

(१) दशरथकी सत्यरक्षा और श्रीरामप्रेम।

(२) श्रीरामके वनगमनद्वारा राक्षस-वधादिरूप लीलाओं द्वारा दुष्ट-दलन।

(३) श्रीभरतका त्याग और आदर्श भ्रातृ-प्रेम।

(४) श्रीलक्ष्मणजीका ब्रह्मचर्य, सेवाभाव, रामपरायणता और त्याग।

(५) श्रीसीताजीका आदर्श पवित्र पातिव्रत-धर्म।

(६) श्रीकौसल्याजीका पुत्रप्रेम, पुत्रवधूप्रेम, पातिव्रत, धर्मप्रेम और राजनीति-कुशलता।

(७) श्रीसुमित्राजीका श्रीरामप्रेम, त्याग और राजनीतिकुशलता।

(८) कैकेयीका बदनाम और तिरस्कृत होकर भी प्रिय 'राम-काज' करना।

(९) श्रीहनूमान्‌जीकी निष्काम-प्रेमाभक्ति।

नामापराध

१—सत्पुरुषोंकी निन्दा करना ।

२—शिव और विष्णुके नामोंमें ऊँच-नीचकी कल्पना करना ।

३—गुरुका अपमान करना ।

४—वेदादि शास्त्रोंकी निन्दा करना ।

५—'भगवान्‌के नामकी जो इतनी महिमा कही गयी है, यह केवल स्तुतिमात्र है, असलमें इतनी महिमा नहीं है ।' इस प्रकार भगवान्‌के नाममें अर्थवादकी कल्पना करना ।

६—'भगवान्‌के नामसे पापोंका नाश होता ही है, पाप करके नाम लेनेसे पाप नष्ट हो ही जायँगे, पाप हमारा क्या कर सकते हैं ?' इस प्रकार भगवान्‌के नामका आश्रय लेकर नामके बलपर पाप करना ।

७—यज्ञ, तप, दान, व्रत आदि शुभ कर्मोंको नामके समान मानना ।

८—श्रद्धारहित और सुनना न चाहनेवाले व्यक्तिको उपदेश करना ।

९—नामकी महिमा सुनकर भी नाममें प्रीति न करना । और

१०—'मैं' और 'मेरे'के फेरमें पड़कर विषय-भोगोंमें आसक्त होना ।

ये दस नामापराध हैं । नामापराधसे भी छुटकारा नामके जप-कीर्तनसे ही मिलता है ।

> नामापराधयुक्तानां नामान्येव हरन्त्यघम् ।
> अविश्रान्तप्रयुक्तानि तान्येवार्थकराणि च ॥

'नामापराधयुक्त पुरुषोंका पाप नाम ही हरण करता है और निरन्तर कीर्तन किये जानेपर नाम सारे मनोरथोंको पूरा करता है ।'

भगवदनुराग

क्षणभङ्गुर मनुष्य-शरीरको शास्त्रकारोंने बहुत दुर्लभ बतलाया है, उनका कहना है कि इसी शरीरसे यथोचित उद्योग करनेपर जीवकी अनन्तकालकी सुख-कामना सर्वथा पूर्ण हो सकती है। भगवान्‌ने कृपा करके इस शरीरमें ऐसा विवेक दिया है, जिससे मनुष्य भले-बुरे और नित्य-अनित्यका विचार कर बुरे और अनित्यका त्याग तथा भले और नित्यका ग्रहण कर सकता है। विवेकके द्वारा वह अपनी अनादि-कालकी कामनाको पहचानकर उसकी प्राप्तिके लिये चेष्टा कर सकता है और अन्तमें उसे पा सकता है। जो मनुष्य भगवान्‌के दिये हुए विवेकसे इस कार्यकी पूर्तिमें लगता है, वही मनुष्य कहलाने योग्य है। जो पशुओंकी भाँति केवल उदर-पूर्ति और भोग भोगनेमें ही लगा रहता है, उसको तो मनुष्याकार पशु ही समझना चाहिये। बात भी ठीक है। मनुष्यमें मनुष्योचित गुण होने ही चाहिये। जो रात-दिन जिस-किसी प्रकारसे पैसा कमाने और उससे शरीर सजाने तथा भोग-सामग्रियोंको जुटानेमें लगे रहते हैं, वे यथार्थ ही मनुष्यके कर्त्तव्यसे गिरे हुए हैं। जिस बुद्धि-विवेकको भगवत्प्राप्तिके साधनमें लगाना चाहिये, उसी

विवेकका प्रयोग यदि हाड़-मांसके शरीरको सजानेमें, फैशन बनानेमें, विलासिताका सामान इकट्ठा करनेमें और इन्द्रियोंको आरम्भमें सुखकर प्रतीत होनेवाली परंतु परिणाममें दुःखदायिनी भोग-सामग्रियोंके संग्रह करनेमें किया जाय तो इससे बढ़कर मूर्खता और क्या होगी ? परंतु क्या कहा जाय, यहाँ तो आजकल चारों ओर यही हो रहा है। आज प्रायः सारा ही जगत् केवल भोग-सामग्रियोंके लिये ही जूझ रहा है। जिसके पास भोगके पदार्थ अधिक हों, वही बड़ा आदमी और बड़भागी माना जाता है, चाहे वे पदार्थ उसने कितने भी कुकर्मोंके द्वारा इकट्ठे किये हों और कर रहा हो ! यही हालत राष्ट्रोंकी है।

फैशन तथा बाहरी दिखावेके भावने इतनी गहरी जड़ जमा ली है कि आज गृहत्यागी संन्यासियोंके गेरुआ वस्त्रोंमें, उनके दण्ड-कमण्डलुमें, उनकी चरणपादुकाओंमें; धर्माचार्योंके वेश-भूषा और रहन-सहनमें, सादगीका बाना धारण करनेवाले देशभक्तोंके खादीके कुर्ते, चद्दर और चप्पलोंमें और बनावटसे दूर रहनेके लिये निरन्तर वाणी और कलमसे उपदेश करनेवाले महानुभावोंकी वाणी और कलममें—सभीमें फैशन आ गया है। उनकी ऊपरकी सादगी दिलकी सादगीका सच्चा प्रतिबिम्ब नहीं है। किस प्रकार दूसरे हमें देखकर मुग्ध हों; कैसे कोई हमारी वाणी, कलम, पोशाक, चाल और चाहपर रीझे, हृदयको टटोलकर देखा जाय तो प्रायः अधिकांशके अंदर ऐसे ही भाव पाये जायँगे। यह सादगीमें छिपी विलासिता है। कर्मेन्द्रियोंको रोककर मनसे विषयोंकी चाह करनेको भगवान्‌ने मिथ्याचार बतलाया है। सच पूछा जाय तो आज जगत्‌में मिथ्याचारका प्रचार बढ़ रहा है। कपट बढ़

रहा है। भोगेच्छाका दमन नहीं, किंतु उसकी प्रबलता बढ़ रही है और उन्नतिके नामपर उसको बढ़ाया जा रहा है। सांसारिक भोगोंकी इच्छा जितनी ही अधिक बलवती होती है, जितना ही अधिक भोग-पदार्थोंके संग्रहकी भावना बढ़ती है, उतना ही मनुष्य भगवान् और भगवद्भावोंसे दूर होता चला जाता है। हमारे आजके छात्रावास, आश्रम, विद्यालय और गुरुकुल-ऋषिकुलोंसे, प्राचीन त्यागमय संग्रहशून्य छात्रावास, ऋषियोंके आश्रम, विद्यामन्दिर और गुरुकुल-ऋषिकुलोंका मिलान करके देखिये। आकाश-पातालका अन्तर पड़ गया है। त्यागका आदर्श भोगके आदर्शके रूपमें बदल गया है। जीवनका लक्ष्य भगवान् न रहकर जगत्के भोग—सुख-साम्राज्य, यथेच्छाचरणकी स्वतन्त्रता आदि रह गये हैं। आज मनुष्य कितना विवेकशून्य हो गया है, इसका पता मनीषियोंको इन सब बातोंपर विचार करनेसे अनायास ही लग सकता है।

यह स्थिति बड़ी ही भयावनी है। अभी पता नहीं लगता, परंतु जब इसका परिणाम सामने आयेगा, तब दुःखकी सीमा न रहेगी। उस परिणामके चित्रकी कल्पना आते ही हृदय काँप उठता है। पता नहीं, विवेकभ्रष्ट मनुष्य कब पुनः विवेकको प्राप्तकर भगवत्-पथका पथिक होगा?

परंतु पूर्वपुण्य या साधु पुरुषोंके सङ्गसे जिनके मनमें कुछ भी मानव-जीवनके उद्देश्य-सम्बन्धी विवेक जाग्रत् है, उन लोगोंको तो सावधानीके साथ अपने जीवनका मार्ग स्थिर करके उसपर चलना आरम्भ कर ही देना चाहिये। यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि

चक्कीके पाटोंके बीच पड़े हुए दानोंमें जो दाने बीचकी कीलीके आस-पास लगे रहते हैं, वे पिसनेसे बच जाते हैं। इस घोर कालमें भी—जो देखनेमें भ्रमसे प्रगतिका, उन्नतिका और अभ्युदयका-सा प्रतीत होता है—जो मनुष्य भगवान्की और धर्मकी परायणताको नहीं छोड़ेंगे, वे महान् बुरे परिणामसे अवश्य बच जायँगे।

सबसे पहले विवेकसे निर्णय करके जीवनका लक्ष्य—ध्येय स्थिर कर लेना चाहिये। वह ध्येय परमात्मा है, जबतक उसकी प्राप्ति नहीं होगी, तबतक जीवके दुःखोंका अन्त किसी प्रकार किसी उपायसे भी नहीं हो सकता। तदनन्तर उस लक्ष्यके विरोधी सभी कार्योंसे मुँह मोड़ लक्ष्यके सम्मुख होकर चलना आरम्भ कर देना चाहिये। इसीका नाम अभ्यास और वैराग्य है। भगवत्-विरोधी सांसारिक विषयोंमें—इस लोक और परलोकके सभी भोग-विषयोंमें अनुरागका सर्वथा त्याग और भगवत्के अनुकूल श्रवण, चिन्तन, सेवा, ध्यान आदि सद्वृत्तियों और कार्योंका ग्रहण करना चाहिये। यह बात सदा स्मरण रखनी चाहिये कि मनुष्य-शरीर इन्द्रियोंके तृप्त करनेकी झूठी झाँकी दिखानेवाले भोगोंके लिये नहीं है, झूठी झाँकी इसीलिये कि भोगोंसे कभी तृप्ति हो ही नहीं सकती, 'बुझै न काम-अगिनि तुलसी कहुँ, विषय-भोग बहु घी ते।' यह शरीर है भगवान्को प्राप्त करनेके लिये, अतएव भगवत्प्राप्तिके मार्गमें—चाहे जितने कष्टोंका सामना करना पड़े, चाहे जैसी विपत्तियाँ आयें, इन्द्रियोंके समस्त सुखकर भोग नष्ट हो जायँ, उनका प्राप्त होना सर्वथा रुक जाय, सारे ऐश-आराम सपना हो जायँ, इन्द्रियाँ छटपटायें, जो कुछ भी हो, किसी बातकी भी परवा

न करके आगे बढ़ते ही जाना चाहिये, सब कुछ खोकर भी उसे पानेकी चेष्टा करनी चाहिये। जो ममत्व-बुद्धिसे जगत्‌के इन सब पदार्थोंको बचानेकी चेष्टामें लगा रहता है वह परमात्माको नहीं पा सकता; पर जो सबका मोह छोड़कर मनसे सबका नाता तोड़कर विगतज्वर हो भगवत्प्रेमकी अग्निमें कूद पड़ता है, वह अपने सारे पाप-तापोंको उस धधकती हुई प्रेमाग्निमें भस्मकर परम अमृत—परम शान्तिको प्राप्त करता है।

इसका यह अभिप्राय नहीं कि मनुष्य गृहस्थी छोड़ दे—कर्तव्य-कर्म छोड़ दे; यहाँ गृहस्थ या संन्यासीका सवाल नहीं है, प्रश्न है जगत्‌के त्यागका—जगत्‌के इस मायामय वर्तमान रूपके नष्ट कर देनेका—इस प्रपञ्चको जला देनेका। इसके स्थानमें भगवान्‌को बैठा दीजिये, जगत्‌की जगह श्रीहरिकी प्रतिष्ठा कीजिये, जगत्-पत्थरको खोकर हरि-हीरेको प्राप्त कीजिये और उसीकी इच्छासे, उसीकी सामग्री-से और उसीके साधनसे उसके सब रूपोंमें उसीकी सेवा करते रहिये। फिर कुछ छोड़ने-ग्रहण करनेका सवाल ही नहीं रह जायगा।

यह भावुकता या कल्पना नहीं है, ऐसा किया जा सकता है—हो सकता है। जीवनका ध्येय निश्चित करके विरोधी भोग-पदार्थोंमें वैराग्य कीजिये, फिर आप ही जीवन हरिमय होने लगेगा। फिर हरि-प्रेमकी आगमें कूदनेमें भय नहीं होगा, प्रत्युत उत्साह होगा, जल्दी-से-जल्दी कूद पड़नेके लिये मनमें तलमलाहट पैदा होगी और हम उसमें बिना आगा-पीछे सोचे कूद ही पड़ेंगे; क्योंकि वैराग्यके बादकी यही सीढ़ी है। वैराग्यके बाद भगवदनुराग ही रह जाता है। यह भगवदनुराग ही मनुष्यको भगवत्स्वरूपतक पहुँचानेका सर्वोत्तम साधन

है । जिसके हृदयमें भगवदनुरागकी जितनी अधिक मात्रा होती है, वह बाह्य जगत्‌की निम्न-प्रकृतिसे ऊँचा उठकर उतना ही अधिक अन्तर्जगत्—अध्यात्म-जगत्‌की उच्च भूमिकामें प्रवेश करता है । तब उसे पता लगता है कि इस स्थितिके सामने बहिर्जगत्‌की ऊँची-से-ऊँची स्थिति भी तुच्छ और नगण्य है, परंतु यहीं उसकी दिव्यधाम-यात्राका मार्ग समाप्त नहीं होता, इससे अभी बहुत ही ऊँचे उठना है और क्रमशः ज्यों-ज्यों ऊँची भूमिकामें प्रवेश होगा, त्यों-ही-त्यों क्रमशः नीचेकी भूमिकाओंका आनन्द, सुख, ऐश्वर्य, शक्ति, मति, ज्ञान आदि सब निम्न श्रेणीके और तुच्छ प्रतीत होते रहेंगे, आखिरी मंजिल तै करनेपर परमात्माके स्वप्रकाशित नित्य विशुद्ध राज्यमें—उस दिव्य धाममें प्रवेश होगा, जहाँका वर्णन कोई कर नहीं सकता, जो इस जगत्‌की किसी भी वस्तुसे तुलना करके नहीं बतलाया जा सकता । यहाँके चन्द्र-सूर्य जहाँ प्रवेश नहीं कर पाते । इसीका इशारा भगवान्‌के इन वाक्योंमें हैं—

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥
अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥

(गीता ८ । २०-२१)

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥

(गीता १५ । ६)

(प्रलयके समय जिस अव्यक्तमें समस्त जगत् लय होता है और पुनः सृष्टि-कालमें जिस अव्यक्तसे उत्पन्न हो जाता है) उस

अव्यक्तसे भी अति परे एक दूसरी सनातन सत्-चित्-आनन्दमय अव्यक्त सत्ता है, जो सब भूतोंके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होती, इसीसे उसे अव्यक्त और अक्षर कहते हैं, उसीको परम गति कहते हैं, जिसको पाकर कोई लौटते नहीं, (उस स्थितिसे कभी नीचे नहीं उतरते) वह मेरा परम धाम है। उस स्वप्रकाशित परम सत्ताको न सूर्य प्रकाशित कर सकता है और न चन्द्रमा और न अग्नि ही। उस परम पदको पाकर कोई वापस नहीं लौटते, वही मेरा परम धाम है।

श्रुति भी इशारा करती है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥
(कठ० २।२।१५)

उस स्वप्रकाश आनन्दस्वरूप सत्ताको सूर्य, चन्द्र, तारा और विद्युत्-समूह प्रकाशित नहीं कर सकते। प्रत्युत उसीके प्रकाशसे सूर्य, चन्द्र प्रभृति प्रकाश पाते हैं; क्योंकि उसीके तेजसे यह समस्त जगत् प्रकाशित है।

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥
(गीता ८।२८)

योगी (भगवदनुरागी) पुरुष इस रहस्यको जानकर वेद, यज्ञ, तप और दान आदिसे जो पुण्य फल होता है, (इनके फलसे जिन उच्च भूमिकाओंमें स्थान मिलता है) उन सबको लाँघकर निश्चय ही सनातन परम धामको प्राप्त होता है ।

क्षणभङ्गुर मनुष्य-देह इसी उद्देश्यकी सिद्धिके लिये मिला है, इसीसे इसको दुर्लभ कहा है; ऐसे वरदानस्वरूप विवेकसम्पन्न मनुष्य-देहको प्राप्त करके यदि कोई उस विवेकको केवल शरीर सजाने और फैशन बनानेमें ही खर्च करे तो वह अत्यन्त ही दयनीय है । इस बातको स्मरण रखना चाहिये कि मनुष्य-देहसे जीव सन्मार्गमें चलनेपर जैसे उन्नतिके अत्युच्च शिखरपर चढ़ सकता है, वैसे ही कुमार्गमें पड़कर, विषयासक्त होकर, इन्द्रियोंका गुलाम बनकर वह अवनतिके गहरे गड्ढेमें भी गिर सकता है, क्योंकि मनुष्य-जीवन कर्म-योनि है, इस जीवनमें—

'कर्म प्रधान बिस्व करि राखा । जो जस करै सो तस फल चाखा ॥'

—की उक्ति चरितार्थ होती है । इस जीवनमें जीव पाप-पुण्य, बन्धन-मुक्तिका साधन कर सकता है । अपने विवेक और बलको चाहे जिस कार्यमें खर्चकर उसीके अनुरूप फलका भागी हो सकता है ।

यह मनुष्य-विवेकके दुरुपयोगका ही फल है, जो मनुष्येतर प्राणियोंके लिये आज मनुष्य सबसे बड़ा घातक हो गया है । मनुष्यने अपने दैहिक सुखके लिये ही एक-एक इंच भूमिपर, जंगलके प्रत्येक पेड़पर अपना अधिकार कर लिया है, जिससे वन्य पशु-पक्षियोंकी बुरी गति हो रही है । रेल, मोटर, बड़ी-बड़ी मिलें, कारखाने, हवाईजहाज, बड़े-बड़े महल आदि मानवी सुखके सामानोंने इतर प्राणियोंके जीवनको

विभीषिकामय और दुःखमय बना दिया है। इन विशाल दानवी कार्योंके प्रारम्भ, विस्तार और संचालनमें कितनी जीवहिंसा होती है, इसका तो कोई हिसाब ही नहीं ! चूल्हे-चक्कीमें होनेवाली प्राणिहिंसाके पापसे मुक्त होनेके लिये नित्य पञ्च-महायज्ञ करनेवाली आर्यजातिके महापुरुषोंने बड़ी-बड़ी मशीनोंकी चक्कियोंके जीव-घातक कार्योंसे बचनेका क्या उपाय सोचा है, कुछ पता नहीं। यही नहीं, आज मनुष्य-सुखके लिये विविध भाँतिसे जीवोंका संहार किया जा रहा है और उसको आवश्यक कार्य समझकर सभी ओरसे उत्साह प्रदान किया जाता है। रेशमके कारखाने, चमड़ेके कारखाने, जूतोंके कारखाने और विदेशी दवाइयोंके कारखाने आदिको देखने-सुननेसे इस बातका पता चल सकता है। मनुष्यने अपने विवेकका यहींतक दुरुपयोग नहीं किया, अपने ही जलनेके लिये उसने अपने अंदर भी दुःखकी आग सुलगा दी। विद्या-बुद्धिसे युक्त कहलानेवाले कुछ इने-गिने मनुष्योंने अपने व्यक्तिगत शारीरिक सुखके लिये बड़े-बड़े दानवी यन्त्र और कारखानोंके द्वारा अगणित गरीबोंके मुँहका टुकड़ा छीनकर उन्हें तबाह करना शुरू कर दिया। परिणाममें आत्मकलहका जो युद्ध आज मनुष्य-जातिमें छिड़ गया है, उसका कितना भयानक फल होगा, इस बातको कौन बता सकता है ? विवेकके दुरुपयोगसे उत्पन्न उच्छृङ्खलतासे आज सभी ओर अशान्ति हो रही है। परलोक और भगवान्‌को भूलकर प्रायः सभी मनुष्य आज अपने-अपने क्षुद्र सुखके लिये छटपटा रहे हैं और मोहान्ध होकर परिणामज्ञानसे शून्य-से हो दानवोचित साधनों-तकको अपना रहे हैं। क्या यही मनुष्य-जीवनका ध्येय है ? बड़ी गलती की जा रही है। शीघ्र चेतना चाहिये। मानव-जीवनको पशु

या असुर-जीवनमें परिणत न कर इसे देव या भागवत-जीवन बनाना चाहिये। हृदयमें ईश्वरका अधिष्ठान समझकर उसीकी प्रसन्नताके लिये उसके आज्ञानुसार चलना चाहिये। यह स्मरण रखना चाहिये, पापकी प्रेरणा हृदयस्थ ईश्वरकी आज्ञा नहीं है। वह तो हमारे हृदयमें छिपे हुए काम, क्रोध, लोभ, अज्ञान प्रभृति असुरोंकी प्रेरणा है, जो भगवान्‌की विस्मृति कराकर हमें भयानक नरकाग्निमें जलानेके लिये हमारे अंदर डेरा डाले हुए है। इन असुरोंको पहचानकर इनसे बचना चाहिये। वैराग्यके शस्त्रसे इन्हें मारना चाहिये। वैराग्यका उदय—वास्तविक विरागकी उत्पत्ति तभी होगी, जब हमारे जीवनका ध्येय निश्चित हो जायगा, जब हमारी बुद्धि मोहके कलिलसे निकल जायगी। जब उसे सांसारिक उन्नति और सांसारिक सुखोंका वास्तविक स्वरूप दीख जायगा।

इसीके लिये सत्सङ्ग, सत्-शास्त्राध्ययन, यम-नियम आदिकी आवश्यकता है। मनुष्य-जीवन बहुत थोड़ा है, प्रतिक्षण हमारे जीवनका नाश हो रहा है, अनेक प्रकारकी विघ्न-बाधाएँ सामने हैं, अतएव बहुत ही शीघ्र उस उपायमें लग जाना चाहिये, जिससे हम तुरंत ही अपने जीवनका ध्येय निश्चित कर उसको पानेके लिये गुरु और शास्त्रकथित मार्गपर आरूढ़ होकर चलना आरम्भ कर दें।

भगवत्-कृपापर विश्वास करके जीवनको उनकी सेवामें लगा दीजिये, फिर देखिये, उनकी कृपासे सारी कठिनाइयाँ आप ही दूर हो जाती हैं।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।

विषय और भगवान्

संसारके विषयोंमें न मालूम कैसी मोहनी है, देखते और सुनते ही मन ललचाता है, उनकी प्राप्तिके लिये अनेक उचित, अनुचित उपाय किये जाते हैं, मनुष्य मोहवश मन-ही-मन सोचता है कि इनकी प्राप्तिसे सुख हो जायगा, परंतु उसका विचार कभी सफल होता ही नहीं। कितने ही लोगोंके जीवन तो अभीष्ट विषयकी प्राप्ति होनेके पूर्व ही पूरे हो जाते हैं। सारा जीवन विषय-सुखके लोभमें अनन्त प्रकारकी मानसिक और शारीरिक विपत्तियोंको सहन करते-करते ही चला जाता है। किसीको कोई मनचाही वस्तु मिलती है, तब एक बार तो उसे कुछ सुख-सा प्रतीत होता है, परंतु दूसरे ही क्षण नयी कामना उत्पन्न होकर उसके चित्तको हिला देती है और फिर तुरंत ही वह अशान्त और व्याकुल होकर उसको पूरी करनेकी चेष्टामें लग जाता है। वह पूरी होती है तो फिर तीसरी उदय हो जाती है। सारांश यह कि कामनाओंका तार कभी टूटता ही नहीं, वह बराबर बढ़ता चला जाता है। इसका कारण यह है कि संसार-का कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है, जो पूर्ण और सारे अभावोंको सदा-सर्वदा मिटा देनेवाला हो। और जबतक अभावका अनुभव है, तबतक सुखकी प्राप्ति असम्भव है। सारा संसार इसी अभावके फेरमें पड़ा

हुआ है। अच्छे-अच्छे विद्वान्, बुद्धिमान् और चिन्ताशील पुरुष इस अभावकी पूर्तिके लिये ही चिन्तामग्न हैं। युग बीत गये, नाना प्रकारके नवीन-नवीन औपाधिक आविष्कार हुए और रोज-रोज हो रहे हैं; परंतु यह अभाव ऐसा अनन्त है कि इसका कभी शेष होता ही नहीं। बड़ी कठिनतासे, बड़े पुरुषार्थसे, बड़े भारी त्याग और अध्ययनसे मनुष्य एक अभावको मिटाता है, तत्काल ही दूसरा अभाव हृदयमें न मालूम कहाँसे आकर प्रकट हो जाता है। यों एक-एक अभावको दूर करनेमें केवल एक ही जीवन नहीं, न मालूम कितने जन्म बीत गये हैं, बीत रहे हैं और अभावकी जड़ न कटनेतक बीतते ही रहेंगे। कलमी पेड़की डालोंको काटनेसे वह और भी अधिक फैलता है, इसी प्रकार एक विषयकी कामना पूरी होते ही—उसके कटते ही न मालूम कितनी ही नयी कामनाएँ और जाग उठती हैं। किसी कंगालको राज्य पानेकी कामना है, वह उसकी प्राप्तिके लिये न मालूम कितने जप, तप, विद्या, बुद्धि, बल, परिश्रम आदिका प्रयोग करता है। उसे कर्मकी सफलताके रूपमें यदि राज्य मिल जाता है तो राज्य मिलते ही अनेक प्रकारकी ऐसी आवश्यकताएँ उत्पन्न हो जाती हैं, जिनका वह पहले विचार भी नहीं कर सका था। अब उन्हीं आवश्यकताओंकी पूर्तिकी कामना होती है और वह फिर वैसा ही दुखी बन जाता है। इसलिये आवश्यकता है अभावकी जड़ काटकर ऐसी वस्तुको प्राप्त करनेकी जो नित्य, पूर्ण, सत् और सर्वाभावशून्य हो, जिसे पाकर मनुष्य कृतकृत्य हो जाता हो, आप्तकाम और पूर्णकाम हो जाता हो, अभावकी आग सदाके लिये बुझ जाती हो! यह सत् और पूर्ण वस्तु

केवल परमात्मा है, परंतु उस परमात्माकी प्राप्ति तबतक नहीं होती, जबतक जगत्के विषयोंका मोह त्यागकर मनुष्य परमात्माको पानेके लिये एकान्त इच्छुक नहीं हो जाता। जो इस परम वस्तुको पानेके लिये व्याकुल हो उठता है, उसके हृदयसे भोगोंकी शक्ति नष्ट हो ही जाती है, क्योंकि जहाँ भगवान्का प्रेम रहता है, वहाँ भोग-कामना उसी प्रकार नहीं ठहर सकती जिस प्रकार सूर्यके सामने अन्धकार नहीं ठहरता।

जो चाहो हरि मिलनकी, तजौ विषय विष मान।
हियमें बसैं न एक सँग, भोग और भगवान॥

जिन्हें भगवान्के मिलनकी चाह है उन्हें और समस्त इच्छाओंकी जड़ बिल्कुल काट डालनी पड़ेगी। परंतु वह जड़ बड़ी मजबूत है, केवल बातोंसे उसका कटना सम्भव नहीं, उसके काटनेके लिये वैराग्यरूपी दृढ़ शस्त्रकी आवश्यकता है। विषय-वैराग्य हुए बिना कामनाका नाश नहीं होता। इसके लिये बड़े ही प्रयत्नकी आवश्यकता है। तनिकसे प्रयत्नमें घबरा जानेसे काम नहीं चलेगा। जब संसारके साधारण नाशवान् पदार्थोंको पानेके लिये मनुष्यको बहुत-से त्याग करने पड़ते हैं, तब अविनाशी परमात्माकी प्राप्तिके लिये तो विनाशी वस्तुमात्रका त्याग कर देना आवश्यक है ही। ऐसा कौन-सा कष्ट है जो अपने इस परम ध्येयकी प्राप्तिके लिये मनुष्यको नहीं सहना चाहिये? जो थोड़ेमें ही घबरा उठते हैं, उनके लिये इस पथका पथिक बनना असम्भव है। यहाँ तो तन-मन और लोक-परलोककी बाजी लगा देनी पड़ती है। सब कुछ न्योछावर कर देना पड़ता है उस प्रेमीके चारु चरणोंपर! महात्मा श्रीकृष्णानन्दजी महाराज कहा करते थे—

एक धनी जमींदारका नौजवान लड़का किसी महात्माके पास जाया करता था, साधु-सङ्गके प्रभावसे उसके मनमें कुछ वैराग्य पैदा हो गया, उसकी महात्मामें बड़ी श्रद्धा थी, वह प्रेमके साथ महात्माकी सेवा करता था। कुछ दिन बीतनेपर महात्माने कृपा करके उसे शिष्य बना लिया, अब वह बड़ी श्रद्धाके साथ गुरु महाराजकी सेवा-शुश्रूषा करने लगा। कुछ दिनतक तो उसने बड़े चावसे सारे काम किये, परंतु आगे चलकर धीरे-धीरे उसका मन चञ्चल हो उठा, संस्कारवश पूर्वस्मृति जाग उठी और कई तरहकी चाहोंके चक्करमें पड़नेसे उसका चित्त डावाँडोल हो गया। उसे महात्माके सङ्गसे बहुत लाभ हुआ था, परंतु इस समय कामनाकी जागृति होनेके कारण वह उस लाभको भूल गया और उसके मनमें विषाद छा गया। एक दिन वह दोपहरकी कड़ी धूपमें गङ्गा-जलका घड़ा सिरपर रखकर ला रहा था, रास्तेमें उसने सोचा कि मैंने कितना साधु-सङ्ग किया, कितनी गुरु-सेवा की, कितने कष्ट सहे, परंतु अभीतक कोई फल तो नहीं हुआ। कहीं यह साधु ढोंगी तो नहीं है? इतने दिन व्यर्थ खोये।*

---

* जो साधक थोड़ेमें ही बहुत ऊँची स्थिति प्राप्त करनेकी आशा कर बैठता है उसके मनकी इस प्रकारकी दशा समय-समयपर हुआ करती है, यह साधनमें विघ्न है, ऐसे समय घबराकर साधनको छोड़ नहीं बैठना चाहिये। धीरता और दृढ़ताके साथ बिना उकताये साधन किये जाना ही साधकका कर्तव्य है, सच्चे साधकको तो यह विचारनेकी कोई आवश्यकता ही नहीं होती कि मेरी उन्नति हो रही है, या नहीं। जो हरिभजन और गुरुशुश्रूषाके बदलेमें उन्नति चाहता है और उन्नतिकी कामनासे ही हरिभजन और गुरुशुश्रूषा करता है, वह तो हरिभजन और गुरुशुश्रूषारूपी महत् धर्मको—प्रेमके परम कर्तव्यको उन्नतिके मूल्यपर बेचता है, वह सौदागर

यह विचारकर उसने घड़ा जमीनपर रख दिया और भागनेका विचार किया। गुरु महाराज बड़े ही महात्मा पुरुष थे और परम योगी थे। उन्होंने शिष्यके मनकी बात जानकर उसे चेतानेके लिये योगबलसे एक विचित्र कार्य किया। उनकी योगशक्तिसे मिट्टीके जड़

है, हरिभक्त और शिष्य नहीं। भक्त और शिष्यका तो केवल यही कर्तव्य है कि गुरूपदिष्ट मार्गसे निष्कामभावसे विशुद्ध प्रेमके साथ स्वाभाविक ही साधन करता रहे। मैं साधन कर रहा हूँ, ऐसी भावना ही मनमें न आने दे। ऐसी भावनासे अपने अंदर साधनपनका अभिमान उत्पन्न होगा और साधनके फलकी स्पृहा जाग्रत् हो उठेगी, ईश्वरेच्छासे इच्छित फल न मिलने या विपरीत परिणाम होनेपर उसके मनमें साधन और साधन बतलानेवाले सद्‌गुरुके प्रति शङ्का और अश्रद्धा हो जायगी, जिसका फल यह होगा कि वह साधनसे गिर जायगा। सच्चे साधकको फलकी चिन्ता ही न करनी चाहिये, फलकी बात भगवान् जाने, उसे फलसे कोई मतलब नहीं, अनुकूल हो तो हर्ष नहीं और प्रतिकूल हो तो शोक नहीं। भगवान् कहते हैं—

'न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।'

—जिस वस्तुको लोग प्रिय समझते हैं उसकी प्राप्तिमें तो वह हर्षित नहीं होता, और जो वस्तु लोगोंकी दृष्टिमें बहुत ही अप्रिय है, उसको पाकर वह दुःखित नहीं होता। वह तो जानता है केवल अनन्यभावसे भजन करना, उसे लाभ-हानि, स्वर्ग-नरक, सिद्धि-असिद्धि और मोक्ष-बन्धनसे कोई लेन-देन नहीं। यदि भजन होता है तो वह सभी अवस्थाओंमें सदा परम सुखी है। उसके मनमें यदि कोई विपत्ति है, तो यही है कि जब किसी कारणवश प्रभुका स्मरण छूट जाता है—

'कह हनुमंत बिपति प्रभु सोई। जब तव सुमिरन भजन न होई॥'

—वह तभी भयानक मनःपीड़ासे छटपटाता है। जब उसे प्रियतमकी पलभरकी विस्मृति हो जाती है, तब—'तद्विस्मरणे परमव्याकुलता।'

घड़ेमेंसे मनुष्यकी भाँति आवाज निकलने लगी। घड़ेने पुकारकर पूछा, 'भाई! तुम कहाँ जा रहे हो?' शिष्यने कहा, 'इतने दिन यहाँ रहकर सत्सङ्ग किया, परंतु कुछ भी नहीं मिला, इससे इसे छोड़कर कहीं दूसरी जगह जा रहा हूँ।' घड़ेमेंसे फिर आवाज आयी, 'जरा ठहरो, मेरी कुछ बातें मन लगाकर सुन लो, मैं तुम्हें अपनी जीवनी सुनाता हूँ, उसे सुननेके बाद जाना उचित समझना तो चले जाना'।' शिष्यके स्वीकार करनेपर घड़ा बोलने लगा—'देखो, मैं एक तालाबके किनारे मिट्टीके रूपमें पड़ा था, किसीकी भी कुछ भी बुराई नहीं करता था, एक जगह चुपचाप पड़ा रहता था, लोग आकर मेरे ऊपर मल-त्याग कर जाते, सियार-कुत्ते बिना बाधा पेशाब करते। मैं सभी कुछ सहता, मनका दुःख कभी किसीके सामने नहीं कहता। मेरा किसीके साथ कोई वैर नहीं था, तो भी न मालूम क्यों एक दिन कुम्हारने आकर मुझपर तीखी कुदालका वार किया, मेरे शरीरको जहाँ-तहाँसे काटकर अपने घर ले गया। वहाँ बड़ी ही निर्दयतासे मूसलोंकी मार मारकर मेरा चकनाचूर कर डाला, पैरोंसे रौंदकर मेरी बड़ी ही दुर्दशा की। फिर वह एक चक्रमें डालकर मुझे घुमाने लगा, बड़ी मुश्किलसे जब घूमनेसे पिण्ड छूटा, तब मैंने सोचा कि अब तो इस विपत्तिसे छुटकारा होगा, परंतु परिणाम उलटा ही हुआ। कुम्हारने कुछ देरतक पीटकर मुझे कड़ी धूपमें डाल दिया और फिर जलती हुई आगमें डालकर जलाने लगा। अन्तमें वह मुझे एक दूकानपर रख आया, मैंने समझा कि अब तो छूट ही जाऊँगा, लेकिन फिर भी नहीं छूट सका। वहाँ मुझे जो कोई भी लेने आता, ठोंककर बजाये बिना

नहीं हटता, यों लोगोंकी थप्पड़ खाते-खाते मेरे नाकोंदम हो गया। इस प्रकार कितना ही काल बीतनेपर मैं इस साधुके आश्रममें पहुँच सका हूँ, यहाँ मुझे पवित्र गङ्गाजलको हृदयपर धारण कर भगवान्की सेवा करनेका मौका मिला है। इतने कष्ट, इतनी भयानक यातनाएँ भोगनेके बाद कहीं मैं परम प्रभुकी सेवामें लग सका हूँ। जीवनभर महान् दुःखोंकी चक्कीमें पिसनेपर ही आज विश्वनाथकी चरण-सेवाका साधन बनकर धन्य हो सका हूँ। भाई! उन्नतिके—यथार्थ उन्नतिके ऊँचे सिंहासनपर चढ़नेवालेको प्रथम बाधा-विघ्न-जनित भयानक निराशाके थपेड़े अटल, अचलरूपसे सहने पड़ते हैं, शून्यताके घोर जलशून्य मरुस्थलको स्थिर धीर भावसे लाँघकर आगे बढ़ना पड़ता है। इस अग्निपरीक्षामें उत्तीर्ण होनेपर फिर कोई भय नहीं है। अतएव मेरे भाई! तुम निराश न होओ, जितना दुःख या कष्ट आये, जितनी ही अधिक निराशा, शून्यता, अभाव और अन्धकारकी काली-काली घटाएँ जीवनाकाशमें चारों ओर फैल जायँ, उतना ही तुम भगवान्की ओर अग्रसर हो सकोगे। यातनाकी अग्निशिखा जितनी ही अधिक धधकेगी, तुम उतने ही शान्तिधामके समीप पहुँचोगे।'
घड़ेके सदुपदेशसे शिष्यकी आँखें खुल गयीं, उसने अपनी पूर्व स्थितिके साथ वर्तमान स्थितिकी तुलना की तो उसे साधना और गुरु-सेवाका प्रत्यक्ष महान् फल दिखायी दिया। वह घड़ेको उठाकर गुरुकी कुटियाको चल दिया और वहाँ पहुँचकर गुरुके चरणोंमें लोट गया।

इस दृष्टान्तसे यह समझना चाहिये कि हमें यदि सत, चित, आनन्द, नित्य निरञ्जन परमात्माको प्राप्त करना है तो किसी भी विपत्ति

और कष्टसे घबराना नहीं चाहिये। संसारी विपत्तियाँ और कष्ट तो इस मार्गमें पद-पदपर आवेंगे। वास्तवमें अपने मनसे सारे भोगोंका सर्वथा नाश ही कर देना पड़ेगा। विरागकी आगमें विषयोंकी पूर्णाहुति दे देनी पड़ेगी। भगवान् तो कहते हैं—

यस्तु मां भजते नित्यं वित्तं तस्य हराम्यहम्।
करोमि बन्धुविच्छेदं स तु दुःखेन जीवति॥
संतापेष्वेषु कौन्तेय यदि मां न परित्यजेत्।
ददामि स्वीयपदं च देवानामपि दुर्लभम्॥

'जो मेरा प्रेमसे भजन करता है, मैं उसके वित्तको (उसकी सम्पत्तिको) हर लेता हूँ (सम्पत्तिसे केवल रुपये ही नहीं समझने चाहिये, जिसका मन जिस वस्तुको सम्पत्ति समझता है वही उसकी सम्पत्ति है—जैसे लोभी धनको, कामी स्त्रीको और मानी मानको सम्पत्ति मानता है) और उसका भाइयोंसे, घरवालोंसे विच्छेद करवा देता हूँ, इससे वह बड़े ही दुःखसे जीवन काटता है। इतना संताप प्राप्त होनेपर भी जो मेरा त्याग नहीं करता, प्रेमसे मेरा भजन करता ही रहता है, उसे मैं अपना देव-दुर्लभ परमपद प्रदान कर देता हूँ।' श्रीमद्भागवतमें एक दूसरी जगह भगवान् कहते हैं—

यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः।
ततोऽधनं त्यजन्त्यस्य स्वजना दुःखदुःखितम्॥
स यदा वितथोद्योगो निर्विण्णः स्याद्धनेहया।
मत्परैः कृतमैत्रस्य करिष्ये मदनुग्रहम्॥
तद्ब्रह्म परमं सूक्ष्मं चिन्मात्रं सदनन्तकम्।
अतो मां सुदुराराध्यं हित्वाऽन्यान्भजते जनः॥

ततस्त आशुतोषेभ्यो लब्धराज्यश्रियोद्धताः ।
मत्ताः प्रमत्ता वरदान् विस्मरन्त्यवजानते ॥
(१० । ८८ । ८—११)

'जिसपर मैं कृपा करता हूँ, उसके सारे धन (रत्न-धन, स्वर्ण-धन, गो-धन, कीर्ति-धन) आदिको शनैः-शनैः हर लेता हूँ, तब उस दुःखोंसे घिरे हुए निर्धन मनुष्यको उसके स्वजन लोग भी छोड़ देते हैं । यदि फिर भी वह घरवालोंके आग्रहसे धन कमानेका कोई उद्योग करता है तो मेरी कृपासे उसके सारे उद्योग व्यर्थ हो जाते हैं । तब वह विरक्त होकर मत्परायण भक्तोंके साथ मैत्री करता है, तदनन्तर उसपर मैं अनुग्रह करता हूँ, उसे मुझ परमसूक्ष्म, सत्-चैतन्य-घन, अनन्त परमात्माकी प्राप्ति होती है । इसीलिये लोग मेरी आराधनाको कठिन समझकर दूसरोंको भजते हैं और उन शीघ्र ही प्रसन्न होनेवाले दूसरोंसे राज्यलक्ष्मी पाकर उद्धत, मतवाले और असावधान होकर अपने उन वरदान देनेवालोंको भूलकर उन्हींका अपमान करने लगते हैं ।'

इसका यह अभिप्राय नहीं कि जिनके पास धन है, उनपर भगवत्की कृपा और उन्हें भगवत्प्राप्ति होती ही नहीं । अवश्य ही जबतक धनका अभिमान है और धनमें आसक्ति है, तबतक भगवत्कृपा और भगवत्प्राप्ति नहीं होती । जिन्होंने अपना माना हुआ सर्वस्व भगवान्के चरणोंमें अर्पण कर दिया, जिनकी सारी अहंता-ममतापर भगवान्का अधिकार हो गया, वे अवश्य ही धन रहते हुए भी अकिञ्चन हैं, ऐसे धनी अकिञ्चनोंपर भगवान्की कृपा अवश्य ही है । त्याग मनसे ही होना चाहिये । परंतु जो लोग मनसे त्याग नहीं करते, जिनके अहंकार और ममत्वकी बीमारी बहुत बढ़ी हुई होती है ,उन्हीं-

के लिये भगवान् कृपाकर उपर्युक्त दिव्यौषधिकी व्यवस्था कर उन्हें रोगसे छुड़ाते हैं।

अतएव भगवान्के विधान किये हुए प्रत्येक फलमें मनुष्यको आनन्दका अनुभव होना चाहिये। जो हमारे परम पिता हैं, परम सुहृद् हैं, परम सखा हैं, परम आत्मीय हैं, उनकी प्रेमभरी देनपर जो मनुष्य मन मैला करता है, वह प्रेमी कहाँ है, वह परमात्माकी प्राप्तिका साधक कहाँ है, वह तो भोगोंका गुलाम और कामका दास है। ऐसे मनुष्यको नित्य, परम सुखरूप समस्त अभावोंका सदाके लिये अभाव कर देनेवाले 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती। इसलिये प्रत्येक कष्ट और विपत्तिको भगवान्के आशीर्वादके रूपमें आदरपूर्वक सिर चढ़ाना चाहिये और सब विषयोंसे मन हटाकर सच्ची लगनसे एक चित्तसे उस परम सुहृद् परमात्माकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करना चाहिये।

हमलोग बहुत ही भूलमें हैं जो सर्वाधार भगवान्को छोड़कर बाह्य विनाशी वस्तुओंके पीछे भटक-भटककर अपना अमूल्य मानव-जीवन व्यर्थ खो रहे हैं। कामनाके इस दासत्वने—आठों पहरके भिखमंगेपनने हमें बहुत ही नीचाशय बना दिया है। हम बड़े ही अभिमानसे अपनेको 'महत्त्वाकाङ्क्षा' वाला प्रसिद्ध करते हैं, परंतु हमारी वह महत्त्वाकाङ्क्षा होती है प्रायः उन्हीं पदार्थोंके लिये जो विनाशी और वियोगशील हैं। असत् और अनित्यकी आकाङ्क्षा—महत्त्वाकाङ्क्षा कदापि नहीं है। हमें उस अनन्त, महान्की आकाङ्क्षा

करनी चाहिये, जिसके संकल्पमात्रसे विश्व-चराचरकी उत्पत्ति और लय होता है और जो सदा सबमें समाया हुआ है। जबतक मनुष्य उसे पानेकी इच्छा नहीं करता, तबतक उसकी सारी इच्छाएँ तुच्छ और नीच ही हैं। इन तुच्छ, नीच इच्छाओंके कारण ही हमें अनेक प्रकारकी याचनाओंका शिकार बनना पड़ता है। यदि किसी प्रकार भी हम अपनी इन इच्छाओंका दमन न कर सकें तो कम-से-कम हमें अपनी इन इच्छाओंकी पूर्ति चाहनी चाहिये—भक्तराज ध्रुवकी भाँति—उस परम सुहृद् एक परमात्मासे ही। माँगना ही है तो फिर उसीसे माँगना चाहिये, उसीका 'अर्थार्थी' भक्त बनना चाहिये, जिसके सामने इन्द्र, ब्रह्मा सभी हाथ पसारते हैं और जो अपने सामने हाथ पसारनेवालेको अपनाकर उसे बिना पूर्णताकी प्राप्ति कराये, बिना अपनी अनूप-रूप-माधुरी दिखाये कभी छोड़ना ही नहीं चाहता। परम भक्तवर गोसाईं श्रीतुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

जाकें बिलोकत लोकप होत, बिसोक लहैं सुरलोग सुठौरहि।
सो कमला तजि चंचलता, करि कोटि कला रिझवै सिरमौरहि॥
ताको कहाइ, कहै तुलसी, तूँ लजाहि न मागत कूकुर-कौरहि।
जानकी-जीवनको जनु ह्वै जरि जाउ सो जीह जो जाचत औरहि॥

जग जाचिअ कोउ न, जाचिअ जौं, जियँ जाचिअ जानकीजानहि रे।
जेहि जाचत जाचकता जरि जाइ, जो जारति जोर जहानहि रे॥
गति देखु बिचारि बिभीषनकी, अरु आनु हिएँ हनुमानहि रे।
तुलसी! भजु दारिद-दोष-दवानल, संकट-कोटि-कृपानहि रे॥

सच्चा भिखारी

जग जाचिअ कोउ न, जाचिअ जौं,
    जियँ जाचिअ जानकीजानहि रे।
जेहि जाचत जाचकता जरि जाइ,
    जो जारति जोर जहानहि रे॥
गति देखु विचारि बिभीषनकी,
    अरु आनु हिएँ हनुमानहि रे।
तुलसी ! भजु दारिद-दोष-दवानल,
    संकट-कोटि-कृपानहि रे॥

सारा संसार भिखारी है, सदासे भिखारी है, कुछ परमात्माके प्रेम-पागलोंको छोड़कर संसारमें ऐसा कोई नहीं जिसे कुछ भी न चाहिये। कोई भी अपनी स्थितिसे संतुष्ट नहीं है, इसीलिये जीव सदासे भिक्षापरायण है; परंतु उसकी भीखकी झोली कभी भरती नहीं। वह माँग-माँगकर जितना ही झोलीमें डालता है उतनी ही उसकी

झोली खाली होती जाती है । अतएव उसका भिखारीपन कभी नहीं मिटता । कारण यही है कि वह माँगना नहीं जानता, वह उनसे माँगता है जो स्वयं भिखारी हैं या उन वस्तुओंको माँगता है जो सदा अभावमयी हैं । इसलिये मित्रो ! यदि माँगते-माँगते थक गये हो, अपमान सहते-सहते तुम्हारे प्राण व्याकुल हो उठे हों तो एक बार उस जानकीजीवन श्रीरामसे माँगकर देखो ! प्रसिद्ध परमहंस स्वामी कृष्णानन्दजीने एकबार कहा था—

असली भिखारी जगत्में द्वार-द्वारपर तभीतक भटकता है, जबतक कि उसकी भीखकी झोली पूर्ण परमात्माके कृपा-कणोंसे नहीं भर जाती । भीखके लिये ही भगवान्ने हमें अन्तःकरणरूपी भीखकी झोली दी है, परंतु हम भीख माँगना नहीं जानते । इसीसे संसारके कीचड़से सने हुए घृणित चावलोंकी कनीसे ही झोली भर रहे हैं । जिस पवित्र अन्नसे अमृतपूर्ण भोजन बन सकता है, उसका तो एक कण भी हमें नहीं मिला । आओ भिखारी ! एक बार कल्पतरुके नीचे खड़े हो मनचाही चीज माँग लो ! सदाके लिये माँग लो ! अपने रीते जीवन-कमण्डलुको अमृत-रससे भर लो ! 'माँ' 'माँ' पुकारकर, 'प्राणप्रिय प्रियतम' पुकारकर, 'जगत्-पति' के नामसे पुकारकर वाणी सफल कर लो ! उस त्रिभुवन-मोहन रूपकी माधुरीधारासे नयनोंको धो डालो, दर्शनकी तृष्णा मिटा लो । अपने मन, प्राण और इन्द्रियसमूहके प्रत्येक परमाणुको सुधासिन्धुके बिंदुपानसे मतवाला बना दो । माँग लो, इस मनुष्य-शरीरके रहते-रहते ही । फिर सूअर होकर माँगना न पड़े, वहाँ तो विष्ठाकी ही भीख मिलेगी । अरे मनुष्य ! जल्दी करो, 'नीके

दिन बीते जा रहे हैं ।' मनुष्य-वृत्तियोंसे पूर्ण अन्तःकरणरूपी पात्रमें ही उस राजराजेश्वरसे मनकी वस्तु माँगकर सदाके लिये तृप्त हो जाओ ! अपने इस पवित्र पात्रको उसके प्रसादसे भर लो । तुम्हारी अनन्तकालकी कमी और कामना सदाके लिये पूरी हो जायगी । अच्छे अवसरकी प्रतीक्षामें जन्मको न गँवाओ ।

भिखारीपर ही भगवान्‌की कृपा हुआ करती है । दीनता ही भगवान्‌की कृपादृष्टिको आकर्षित करती है, अभाव ही भाव-शक्तिका आह्वान करता है । सर्वशून्य दरिद्रता ही दयाके पूर्ण प्रकाशका प्रधान कारण है । अतएव सच्चा भिखारी बन सकना दुर्दशाकी बात नहीं, किंतु बड़े सौभाग्यका विषय है; परंतु प्रकृत भिक्षुक बनना बहुत ही कठिन है । ऐसा होनेके लिये अभिमानको भगा देना पड़ता है, अहंकारको चूर्ण कर देना पड़ता है । जिसका हृदय अभिमानसे भरा है वह क्या कभी यथार्थ अभावग्रस्त भिखारी बन सकता है ? अभिमानसे अभिभूत हृदयमें क्या कभी दीनता टिक सकती है ? महाप्रभु कहते हैं—

तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना ।

तृणकी अपेक्षा भी दीन और वृक्षके समान सहनशील बनकर भगवान्‌की सेवा करनी चाहिये । बड़ी कठिन बात है । इसीसे लोग इस पथपर नहीं चल सकते ।

वास्तवमें भिखारी होना, नम्र बनना, निरभिमान होना जितना कठिन है, भगवान्‌को प्राप्त करना उतना कठिन नहीं है । एक सच्ची घटना है । एक आधुनिक सभ्यताभिमानी बाबू साहब बीमार हुए, बहुत तरहसे इलाज करवाया गया, परंतु कुछ भी लाभ नहीं हुआ ।

ऐलोपैथिक, होमियोपैथिक, वैद्यक, हकीमी आदि सभी तरहके इलाज हुए, परंतु रोग दूर नहीं हुआ। अन्तमें श्रद्धालु गृहिणीकी सलाहसे देवकार्य करना निश्चय हुआ। पण्डितजीने सूर्यकी उपासना बतलायी। कहा कि 'बाबूजी प्रतिदिन प्रातःकाल सूर्यनारायणको साष्टाङ्ग प्रणाम करके अर्घ्य दें।' बाबूने कहा, 'साष्टाङ्ग प्रणाम कैसा होता है, मैं नहीं जानता, आप दिखला दें।' पण्डितजीको तो अभ्यास था ही, उन्होंने पृथ्वीपर लेटकर साष्टाङ्ग प्रणामकी विधि बतला दी। इस प्रणामका ढंग देखकर बाबू बड़े असमंजसमें पड़ गये, परंतु क्या करें, बड़े कष्टसे घुटने नीचे किये, माथा भी कुछ झुकाया परंतु जमीनपर पड़नेकी कल्पना आते ही वे दुखी हो गये। उन्होंने उठकर पण्डित-जीसे कहा—'महाराज! बीमारी दूर हो या न हो, मुझसे ऐसा बेढंगा प्रणाम नहीं होगा।' सारांश यह कि, जिसके शरीर-मन-प्राण अभिमानके विषसे जर्जरित हैं, वह देवताके चरणोंमें अपना सिर क्यों झुकायेगा? जगत्में जो पार्थिव-अभिमान फूट निकला है, महारुद्रके संहार-शूलका दर्शन किये बिना वह मुरझायेगा नहीं। ऐसे अभिमानका त्याग करना जितना कठिन है, भगवान्‌को प्राप्त करना उतना कठिन नहीं है। जो चीज बहुत दूर होती है, उसीका मिलना कठिन होता है। भगवान् जगत्-प्रभु तो तुम्हारे निकटसे भी निकट देशमें रहते हैं, परंतु वे तुम्हारे पास क्यों आवें? तुम तो स्वयं ही प्रभु (अहं) बन रहे हो। जगत्प्रभुके लिये तुमने जो हृदयासन बिछा रक्खा है, वह तो बहुत ही क्षुद्र है। इतने छोटे आसनपर वे और तुम दोनों एक साथ नहीं बैठ सकते।

इसीसे गोसाईंजी महाराजने कहा है—

जहाँ राम तहँ काम नहिं, जहाँ काम नहिं राम।
'तुलसी' कबहुँ कि रहि सके रवि रजनी इक ठाम ॥

जहाँ श्रीराम रहते हैं, वहाँ काम या विषय-परायण 'अहम्' नहीं रह सकता और जहाँ यह काम निवास करता है, वहाँ राम नहीं रहते। सूर्य और रात्रि कभी एक साथ रह सकते हैं? अतएव 'मैं' और 'भगवान्' दोनों अन्धकार-प्रकाशकी भाँति एक साथ नहीं रह सकते। 'मैं' इस पदको हटाना पड़ेगा। तभी 'वे' यहाँ पधारकर विराजित हो सकेंगे। वे तो दुर्लभ नहीं हैं। साधक! झूठमूठ ही भगवान्को दुर्लभ बताकर उनपर कलङ्क क्यों लगाते हो? वे तुम्हारे हृदय-देशमें निवास करनेके लिये आते हैं, परंतु दरवाजा बंद पाकर लौट जाते हैं, तुम्हारे हृदय-कपाट खुले नहीं रहते, इसीसे ध्यानके समय श्रीराधाकृष्णकी मूर्तिसे वे तुम्हारे 'सामने' खड़े रहते हैं। यह कलङ्क असलमें हमारा है, उनका नहीं।

भीख ही ऐश्वर्य-शक्तिको बुलाती है। जो 'भिक्षायां नैव नैव च' कहते हैं, वे भ्रमसे ऐसा कहते हैं। यथार्थ भिखारी बन जानेपर तो ऐश्वर्य-शक्ति दौड़ी हुई आकर उसका आश्रय लेती है। इसीसे तो जगद्धात्री अन्नपूर्णा राजराजेश्वरी भिक्षुकप्रवर महादेवकी गृहिणी बनी हैं। महापण्डित महाप्रभुने भिखारी बनकर ही—कन्था-कौपीन धारण करके ही—तर्काभिमान चूर्ण करके ही अमूल्य 'नीलकान्त-मणि' को प्राप्त किया था। यह भिक्षा ही उसके राज्यकी व्यवस्था है। पूर्ण दीन, पूर्ण निरभिमानी हुए बिना वह प्रियतम नहीं मिल सकता। दीन बनकर यही समझना होगा कि 'मेरा' कुछ भी नहीं है—वही मेरा सर्वस्वधन है। 'मैं' कुछ भी नहीं हूँ, विराट्रूपसे विश्वमें एकमात्र

वही विराजित है। वास्तवमें वही तो सबकी सत्ता (आत्मा) रूपसे स्थित है। तुम और मैं (देहेन्द्रियादि जडपिण्ड) पीछेसे आकर उसको भगानेवाले कौन हैं? हमें इतना घमंड किस बातपर है? यह मनुष्यकी देह मिट्टीसे ही पैदा हुई है और एक दिन पुनः मिट्टी ही हो जायगी। फिर अभीसे मिट्टी क्यों नहीं बन जाते। भगवान्‌के सखा अर्जुनने मिट्टी होकर ही—दीन बनकर कहा था—

शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।

इसीलिये गीताका अमृतमय उपदेश देकर भगवान्‌ने उसके ज्ञानचक्षु खोल दिये। पूर्ण दीनतामय भावके सूक्ष्म सूत्रका अवलम्बन करके ही भावस्वरूप भगवान् प्रकट होते हैं। पापियोंके अत्याचारसे जब पृथ्वीपर दीनता छा जाती है, पुण्यका जब पूर्ण अभाव हो जाता है, तभी भगवान्‌का अवतार होता है। साठ हजार शिष्योंको साथ लेकर जिस समय ऋषि दुर्वासा वनमें पाण्डवोंकी कुटियापर पहुँचे, उस समय द्रौपदीके सूर्यप्रदत्त पात्रमें अन्नका एक कण भी नहीं था। उस पूर्ण अभावके समय—पूरी दीनताके कालमें—द्रौपदीने पूर्णरूप प्रभुको कातरस्वरसे पुकारकर कहा था—'हे द्वारकाधीश! इस कुसमयमें दर्शन दो! दीनबन्धो! विपत्तिके इस तीरहीन समुद्रमें तुम्हें देखकर कुछ भरोसा होगा।' द्रौपदीकी आर्त-प्रार्थना सुनकर जगत्-प्रभु स्थिर नहीं रह सके। ऐश्वर्यशालिनी रुक्मिणी और सत्यभामाको छोड़कर भिखारिणी दरिद्रा द्रौपदीकी ओर दौड़े। द्वारकाके अतुलनीय ऐश्वर्यस्तम्भको भेदकर अरण्यवासी पाण्डवोंकी पर्णकुटीरमें विभूतिस्वरूपकी प्रखर प्रभा प्रकाशित हो गयी। द्रौपदीने कहा, 'नाथ! क्या इतनी देर करके आना चाहिये?' भगवान् बोले, 'तुमने मुझको द्वारकाधीशके

नामसे क्यों पुकारा था, प्राणेश्वर क्यों नहीं कहा ? जानती नहीं हो, द्वारका यहाँसे कितनी दूर है ? इसीसे आनेमें देर हुई है ।'

जो हमारे प्राणोंके अंदरकी प्रत्येक क्रियाको जानते हैं, उनके सामने माँगनेके लिये मुँह खोलना बुद्धिमानी नहीं है । भीखकी झोली बगलमें लेकर दरवाजेपर खड़े होते ही वे दया करते हैं । बस, हमें तो चुपचाप उनकी सेवा करनी चाहिये । हम दीन हीन कंगाल हैं, द्वारपर पड़े रहना ही हमारा कर्तव्य है । उनका कर्तव्य वे जानते हैं, हमें उसके लिये क्यों चिन्ता करनी चाहिये ? सेवकका दुःख-दर्द दूर करना चाहिये, इस बातको प्रभु स्वयं सोचेंगे, हमें तो मनमें भी कुछ नहीं कहना चाहिये । यही निष्काम-भिखारीकी भाषा है । यथार्थ भिखारी तो प्रभुके दर्शन पानेके लिये ही व्याकुल रहता है । उनका दर्शन होनेपर माँगनेकी नौबत ही नहीं आती, सारे अभाव पहले ही मिट जाते हैं, समस्त कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं । भिखारीकी घास-पातकी झोंपड़ी अमूल्य रत्नराशिसे भर जाती है । फिर माँगनेका मौका ही कहाँ रहता है ? श्रीमद्भागवतमें कथा है—

सुदामा पण्डित लड़कपनसे ही भगवान् श्रीकृष्णके सखा थे—दोनों मित्र एक ही गुरुजीके यहाँ साथ ही पढ़ा करते थे । विद्या पढ़ लेनेपर दोनोंको अलग होना पड़ा । बहुत दिन बीत गये । परस्पर कभी मिलना नहीं हुआ । भगवान् श्रीकृष्ण द्वारकाके राजराजेश्वर हुए और गरीब सुदामा अपने गाँवमें भीख माँगकर काम चलाने लगे । सुदामाकी गृहस्थी बड़ी ही कठिनतासे चलती थी । एक दिन उनकी स्त्रीने कहा,—'आप इतने बड़े पण्डित होकर भी कुछ कमाई नहीं

करते । फिर इस विद्यासे क्या लाभ होगा ?' सुदामा बोले, 'ब्राह्मणी ! मेरी विद्या इतनी तुच्छ नहीं है कि मैं उसे केवल नगण्य धन कमानेमें लगाऊँ !' इसपर ब्राह्मणी बोली, 'अच्छी बात है आप इसे धन कमानेमें मत लगाइये ! परंतु आप कहा करते हैं 'श्रीकृष्ण मेरे बालमित्र हैं' सुना है वे इस समय द्वारकाके राजा हैं, उनसे मिलनेपर तो सहज ही आपको खूब धन मिल सकता है ।' सुदामाने कहा, 'तुम तो खूब सलाह दे रही हो ! भगवान्‌से मेरी मित्रता है, इसलिये क्या मैं उनसे धन माँगूँ ? मुझसे ऐसा नहीं होगा । मैं भक्तिको इतनी छोटी चीज नहीं समझता, जो तुच्छ धनके बदलेमें उड़ा दी जाय ! तुम पगली हो गयी हो इसीसे ऐसा कह रही हो ।' ब्राह्मणी बोली, 'स्वामिन् ! मैं कहाँ कहती हूँ कि आप उनके पास जाकर धन माँगें । मैं तो यही कहती हूँ, जब वे आपके बालसखा हैं, तब एक बार उनसे मिलनेमें क्या हानि है ? आप उनसे कुछ भी माँगियेगा नहीं ।' स्त्रीके बहुत समझाने-बुझानेपर सुदामाने सोचा कि चलो, इसी बहाने मित्रके दर्शन तो होंगे और वे वहाँसे चल पड़े । थोड़ेसे चिउड़ोंकी कनी पल्ले बाँध ली ।

सुदामाजी द्वारकाजी पहुँचे । वहाँके बड़े-बड़े सोनेके महलोंको देखकर उनकी आँखें चौंधिया गयीं । श्रीकृष्णके महलपर पहुँचकर उन्होंने द्वारपालसे कहा कि, 'जाओ, अपने स्वामीसे कह दो कि आपके एक बालसखा मिलने आये हैं ।' महलोंकी छटा देखकर गरीब ब्राह्मण सोचने लगा कि कहीं श्रीकृष्ण मुझे भूल तो नहीं गये होंगे । परंतु अन्तर्यामीसे कुछ भी छिपा नहीं था । उनको पता लग गया कि पुराने प्राणसखा सुदामा द्वारपर खड़े हैं । भगवान् पलंगपर लेट

रहे थे, श्रीरुक्मिणीजी चरण-सेवा कर रही थीं। भगवान् चमककर उठे और दरवाजेपर खड़े हुए बाल-बन्धुको आदरके साथ अंदर लिवा लानेके लिये दौड़े। पटरानियाँ भी पीछे-पीछे दौड़ीं।

साधक! तुम उनकी ओर एक पैर आगे बढ़ोगे तो वे तीन पैर बढ़ेंगे। उनकी अतुल दया ऐसी ही है। सखाको साथ लेकर भगवान् अन्तःपुरमें पधारे। पटरानियोंने मिलकर सुदामाके चरण धोये। उन्हें पलंगपर बिठाकर भगवान् स्वयं चमर डुलाने लगे। भगवान्ने प्रेमसे कहा, 'सखे! बहुत दिन बाद तुम मिले हो, मेरे लिये क्या लाये हो?' सुदामाने लज्जासे सिर नीचा कर लिया। इतने बड़े धनीको चिउड़ोंकी टूटी कनी देते सुदामाको बड़ा संकोच हुआ, परंतु भगवान् श्रीकृष्णने उनकी बगलसे पुटलिया छीन ली और लगे चिउड़ा फाँकने। भक्तके प्रेमभरे उपहारकी वे उपेक्षा क्यों करते? भगवान्ने एक मुट्ठी फाँककर ज्यों ही दूसरी हाथमें ली, त्यों ही भगवती रुक्मिणीजीने उन्हें रोक लिया। भगवान् मुट्ठी छोड़कर मुसकराने लगे। तदनन्तर वे बोले—भक्तमाल-रचयिता महाराजा श्रीरघुराजसिंहजी कहते हैं—

ऐसे सुनि प्यारी वचन, जदुनन्दन मुसकाइ।
मन्द मन्द बोले वचन, आनँद उर न समाइ॥
ब्रजमें यशोदा मैया मन्दिरमें माखन औ
मिश्री मही मोहन त्यों मोदक मलाई है,
खायो मैं अनेक बार तैसे मथुरामें आइ,
व्यंजन अनेक मोहि जननी जेंवाई है।

तैसे द्वारिकामें जदुवंशिनके गेह गेह ,
सहित सनेह पायो भोजनमें लाई है ,
रघुराज आजलौं त्रिलोकहुमें मीत ऐसी ,
राउरके चाउरते पाई ना मिठाई है ॥

खायो अनेकन बागन भागन मेवा रसा कर बागन दीठे ,
देवसमाजके साधुसमाजके लेत निवेदन नाहि उबीठे ।
मीत जु साँची कहौ रघुराज इते कस वै भये स्वादते सीठे ,
पायो नहीं कतहूँ अस मैं जस राउर चाउर लागत मीठे ॥

सुदामाके चिउड़ोंकी महिमा वर्णन करनेके बाद सभी सुदामाजीकी सेवामें लग गये । कुछ दिन मित्रके घर रहनेके बाद सुदामाने विदा माँगी । भगवान्‌ने संकोचसे अनुमति दे दी । ब्राह्मण खाली हाथों लौट चले । घरके पास पहुँचकर ब्राह्मणने देखा तो झोपड़ी नहीं है । वहाँ एक बड़ा सुन्दर महल बना हुआ है । ब्राह्मण सुदामाने सोचा, किसी राजाने जमीन छीनकर महल बनवा लिया होगा । ब्राह्मणको बड़ी चिन्ता हुई । फूसकी मढ़ैया और पतिव्रता ब्राह्मणी भी गयी । इतनेमें सुदामा देखते हैं कि उनकी स्त्री महलके झरोखेमें खड़ी उन्हें पुकार रही है । ब्राह्मणने सोचा, दुष्ट राजाने ही स्त्रीको भी हर लिया है, पर वह बुला क्यों रही है ? ब्राह्मण डरकर दौड़े । बड़ी कठिनतासे नौकर उन्हें समझा-बुझाकर घरमें ले गये । गृहिणीने बहुत ही नम्रतासे चरणोंमें प्रणाम करके कहा, 'प्राणेश्वर ! डरें नहीं ! यह अतुल सम्पत्ति आपकी ही है, आपके मित्रने यह आपको भेंट की है ।' सुदामा बोले, 'मैंने तो उनसे कुछ माँगा ही नहीं था ।' ब्राह्मणीने कहा, 'आपने प्रत्यक्ष नहीं माँगा, इसीसे उन्होंने आपको प्रत्यक्षमें

कुछ भी नहीं दिया ।' अन्तर्यामी यों ही किया करते हैं । ब्राह्मणकी दोनों आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह चली । प्राणसखाके प्रेमकी स्मृतिमें सुदामा भावावेशसे विह्वल हो गये ।

जगत् ! देख जाओ, आज इस कंगालके ऐश्वर्यको देख जाओ ! जो कल राहका भिखारी था, वही आज रत्नसिंहासनपर आसीन है । देख जाओ ! आज पर्णकुटीरमें त्रिभुवनव्यापिनी माधुरी छा रही है । संसार ! तुम जिस भिखारीको उपेक्षाकी दृष्टिसे देखते थे, जिसको पद-दलित समझते थे, देख जाओ, आज वही भिखारी दीनताके रूपको भेदकर अखिल विश्वब्रह्माण्डमें वरणीय हो गया है ।

भिखारी ! जगत्की चुटकियोंकी ओर न देखो । जगत्के अपमानकी ओर दृष्टि मत डालो । विचित्र विपत्तियोंसे डरकर मत काँपो । तुम अपना काम अचल चित्तसे किये जाओ । जितने ही बाधा-विघ्न और संकट बढ़ेंगे, उतना ही यह समझो कि तुम्हें गोदमें लेनेके लिये जगत्-जननीका हाथ तुम्हारी ओर बढ़ रहा है । स्नेहमयी माता पुत्रको गोद लेनेसे पहले अँगोछेसे उसके शरीरको रगड़-रगड़कर साफ करती है । साधक ! इसी प्रकार जगज्जननी भी तुम्हें गोदमें लेनेसे पूर्व एक बार रगड़ेगी । इस रगड़से घबराना नहीं—डरना नहीं । यह समझना कि, इस वेदनासे तुम्हारी यम-वेदना विध्वंस हो गयी है । इस कष्टने तुम्हारा सारा कष्ट नष्ट हो गया है, अतएव साधक ! हताश न होना ।

चोर-जार-शिखामणि

व्रजे वसन्तं नवनीतचौरं गोपाङ्गनानां च दुकूलचौरम्।
अनेकजन्मार्जितपापचौरं चौराग्रगण्यं पुरुषं नमामि॥

अहिमकरकरनिकरमृदुमुदितलक्ष्मी-
सरसतरसरसिरुहसदृशदृशि देवे।
व्रजयुवतिरतिकलहविजयिनिजलीला-
मदमुदितवदनशशिमधुरिमणि लीये॥

एक सज्जन पूछते हैं—'गोपालसहस्रनाम' में भगवान्‌का एक नाम 'चौर-जार-शिखामणि' आया है। चोरी और जारी दोनों ही अत्यन्त नीच-वृत्तियाँ हैं। भगवान्‌के भक्तकी तो बात ही दूर, जब साधारण विवेकवान् पुरुष भी 'चोरी-जारी' से बचे रहते हैं, तब फिर भगवान्‌में चोरी-जारीका होना कैसे सम्भव है? और यदि उनमें चोरी-जारी नहीं है तो फिर उनको चोर-जारोंका मुकुटमणि कहना क्या उन्हें गालियाँ देना नहीं है? और यदि वास्तवमें भगवान्‌में चोरी-जारीका होना माना जा सकता है तो फिर वे भगवान् कैसे हुए और उनके आदर्शसे दुनियाके लोग डूबे विना कैसे बचेंगे? मेरी समझसे बुरी नीयतसे किसीने उनका यह नाम रख दिया है। इस सम्बन्धमें आपका मत जानना चाहता हूँ?

इसके उत्तरमें अल्पमतिके अनुसार कुछ लिखनेका प्रयत्न किया जाता है। प्रश्नकर्त्ता महोदयको इससे कुछ संतोष हुआ तो अच्छी बात है। नहीं तो, इसी बहाने कुछ समय भगवच्चर्चामें बीतेगा और इस सुअवसरकी प्राप्तिके कारण प्रश्नकर्त्ता महोदय हैं, इसलिये मैं तो उनका कृतज्ञ हूँ ही।

यह बात सर्वथा सत्य है कि 'चोरी' और 'जारी' बहुत ही नीच वृत्तियाँ हैं और ऐसी वृत्तियाँ जिन लोगोंमें हैं, वे कदापि विवेक-वान् और सदाचारी नहीं हैं। भक्तमें ऐसे दुर्गुण रह ही नहीं सकते, और भगवान्‌में तो इनकी कल्पना करना भी मूर्खताकी सीमा है। इतना होनेपर भी 'गोपालसहस्रनाम' में आया हुआ श्रीभगवान्‌का यह 'चोर-जार-शिखामणि' नाम न तो भगवान्‌को गाली देनेके लिये है और न किसीने बुरी नीयतसे ही इस नामको गढ़ लिया है। दृष्टिविशेषके अनुसार भगवान्‌में इस नामकी पूर्ण सार्थकता है और इसका रहस्य समझ लेनेपर फिर कोई शङ्का भी नहीं रहती।

सबसे पहले भगवान्‌का स्वरूप समझना चाहिये। स्वरूपभूत दिव्यगुणविशिष्ट भगवान्‌में लौकिक गुणोंका—जो प्रकृतिसे उत्पन्न त्रिगुणके विकार हैं—सर्वथा अभाव है, इसलिये वे निर्गुण हैं। भक्तोंके परम आदर्श, लोकसंग्रहके आचार्य और विश्वके भरण-पोषण-कर्त्ता, होनेसे वे समस्त सात्त्विक गुणोंको अपनेमें धारण करते हैं, इसलिये वे अशेष सद्गुणालंकृत हैं और प्रकृतिके द्वारा अखिल जगत्-रूपमें उन्हींका प्रकाश होनेके कारण वे समस्त सदसद्गुणसम्पन्न हैं। भगवान् ही समस्त विश्वके निमित्त और उपादान कारण हैं। इस दृष्टिसे संसार-

के सभी भाव उन्हींसे उत्पन्न होते हैं,* सभी भावोंका सम्बन्ध उनसे जुड़ा हुआ है। इतना होनेपर भी उनके स्व-स्वरूपमें कोई दोष नहीं आता। उनके द्वारा सब कुछ होनेपर भी वे किसीके बन्धनमें नहीं हैं।†

किसी दृष्टिविशेषके हेतुसे उन्हें यदि संसारसे सर्वथा पृथक् माना जाय तो फिर यह तो मानना ही पड़ेगा कि संसारमें जो कुछ है, सभी भगवान्‌का है; क्योंकि वे 'सर्वलोकमहेश्वर'‡ हैं, और संसारमें जितने भी पुरुष हैं, सबके देहमें 'देही' या आत्मारूपसे वे ही स्वयं विराजित हैं§। इस दृष्टिसे समस्त संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंके सत्त्वपर अधिकार करनेसे और समस्त स्त्रियोंके पति होनेसे भी उनपर न तो परधनापहरणका दोष आ सकता है और न औपपत्यका ही।

परंतु यहाँ सर्वलोकमहेश्वर और विश्वात्मारूपमें स्थित भगवान्‌के सम्बन्धमें प्रश्न नहीं है, यहाँ तो प्रश्नकर्ता महोदय विश्वात्मा और सर्वलोकमहेश्वरसे भिन्न समझकर उन साकार-मङ्गलविग्रह भगवान्‌के सम्बन्धमें पूछते हैं, जो धर्मसंस्थापनार्थ ही धरातलपर अवतीर्ण होते हैं। उनका कहना है कि "धर्मसंस्थापनार्थ अवतार ग्रहण करनेवाले भगवान्

---

* ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि .... (गीता ७। १२)

अर्थात् सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणसे उत्पन्न होनेवाले जितने भाव हैं, सबको तू मुझसे ही (उत्पन्न) जान।

† न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय। (गीता ९। ९)

अर्थात् हे अर्जुन! वे कर्म मुझको नहीं बाँधते।

‡ सर्वलोकमहेश्वरम् (गीता ५। २९)

§ अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः। (गीता १०। २०)

अर्जुन! सब भूतोंके हृदयमें आत्मारूपसे मैं ही स्थित हूँ।

क्या ऐसा कोई भी कार्य कर सकते हैं जो स्वरूपतः धर्मविरुद्ध हो और जिससे शुभ आदर्श नष्ट होनेके साथ ही धर्मस्थापनाके स्थानपर धर्मकी हानि होती हो।'

इसके उत्तरमें यों तो यह कहना भी सर्वथा युक्तियुक्त और सत्य ही है कि भगवान्‌पर माया-जगत्‌के धर्मका कोई बन्धन लागू नहीं पड़ता, वे सर्वतन्त्रस्वतन्त्र हैं। वे जो कुछ करते हैं, वही उनका धर्म है। और वे जो कुछ कहते हैं वही शास्त्र है। अवश्य ही उनकी क्रियाका अनुकरण करना हरेकके लिये न तो उचित है और न सम्भव ही है; क्योंकि भगवान्‌की क्रिया भगवान्‌के स्वधर्मानुकूल होती है। जीवमें भगवत्ता न होनेसे वह भगवान्‌के धर्मका आचरण नहीं कर सकता। भगवान् श्रीकृष्ण आग पी गये, वे वरुणलोकसे नन्दको ले आये, यमराजके यहाँसे गुरुपुत्रको लौटा लाये, उन्होंने दिनमें ही सूर्यको छिपा दिया, बाललीलामें कनिष्ठिका अँगुलीपर पहाड़ उठा लिया और अपने चरित्रोंसे ब्रह्माको भी मोहित कर दिया। जीव इनमेंसे कोई-सा भी कार्य नहीं कर सकता। इसीलिये भगवान्‌की क्रियाका अनुसरण भी मनुष्य नहीं कर सकता। हाँ, उनकी वाणीका—उनके उपदेशोंका पालन अवश्य करना चाहिये और इसीमें जीवोंका कल्याण है।

ऐसा होनेपर भी साकार-मङ्गलविग्रह भगवान्‌की लीलामें वस्तुतः ऐसी कोई क्रिया नहीं होती जो शास्त्रविरुद्ध हो या जिसे हम चोरी-जारी या किसी पापकी श्रेणीमें रख सकते हों। मोहवश मूढ़ लोग उनके स्वरूपको न समझनेके कारण ही उनकी क्रियाओंपर दोषारोपण

कर बैठते हैं* । तब फिर इस 'चोरी-जारी' का क्या अर्थ है ?-अब इसीपर संक्षेपमें विचार करना है । यों तो वेदोंमें भी भगवान्‌को 'स्तेनानां पतये नमः' चोरोंके सरदार कहकर प्रणाम किया गया है । भगवान् श्रीरामको भी प्राचीन सद्‌ग्रन्थोंके आधारपर श्रीरामस्वरूपके अनुसरी गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने 'लोचन सुखद विश्व-चितचोरा' कहा है । परंतु प्रधानरूपसे यह 'चोर-जार-शिखामणि' नाम भगवान् श्रीकृष्णके लिये ही प्रयुक्त हुआ है । श्रीमद्भागवतके अनुसार यह स्पष्ट है कि श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं । 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' । गीतामें तो भगवान् श्रीकृष्णने अपने ही श्रीमुखसे वारंवार अपनेको साक्षात् सर्वाधिपति सच्चिदानन्दघन परात्पर तत्त्व घोषित किया है । और इन भगवान्‌का 'चोर-जार-शिखामणि' नाम रक्खा गया है उन व्रज-गोपियोंके द्वारा, जिनके चरणोंकी पावन धूलि पानेके लिये देवश्रेष्ठ ब्रह्मा और ज्ञानिश्रेष्ठ उद्धव तिर्यगादि योनि और लता-गुल्मादि जड शरीर धारण करनेमें भी अपना सौभाग्य समझते हैं†, और स्वयं

---

* अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥
(गीता ९ । ११)

सब भूतोंके महेश्वररूप मेरे परमभावको न जाननेवाले मूढ मनुष्य ही, मानव-शरीरधारी मुझ भगवान्‌को न पहचानकर मुझे तुच्छ समझते हैं ।

† तद् भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां
यद् गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम् ।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान् मुकुन्द-
स्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव ॥
(श्रीमद्भा० १० । १४ । ३४)

श्रीब्रह्माजी कहते हैं—'भगवन् ! मुझे इस धरातलपर व्रजमें

भगवान् जिनका अपनेको ऋणी घोषित करते हैं * ।

गोपियोंके घर माखन खाकर और यमुनातटपर उनके वस्त्रोंको कदंबपर रखकर भगवान् श्रीकृष्ण 'चोर' कहलाये। और शारदीया पूर्णिमाकी रात्रिको गोपियोंमें आत्मरमणकर भगवान् 'जार' कहलाये ।

विशेषतः गोकुलमें किसी कीड़े-मकोड़ेकी योनि मिल जाय जिससे मैं गोकुल-वासियोंकी चरण-रजसे अपने मस्तकको अभिषिक्त करनेका सौभाग्य प्राप्त कर सकूँ, जिन गोकुलवासियोंका जीवन आप भगवान् मुकुन्दके परायण है, जिनकी चरण-रजको अनादिकालसे अबतक श्रुति खोज रही है (परंतु पाती नहीं ।)'

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । ४७ । ६२)

वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः ।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । ४७ । ६४)

श्रीउद्धवजी कहते हैं—

'अहो ! इन गोपियोंकी चरण-रजको सेवन करनेवाली वृन्दावनमें उत्पन्न हुई गुल्म, लता और ओषधियोंमेंसे मैं कुछ हो जाऊँ, (जिससे उन गोपियोंकी चरण-रज मुझे भी प्राप्त हो) क्योंकि इन गोपियोंने बहुत ही कठिनतासे त्याग किये जाने योग्य स्वजनोंको और आर्यपथको त्यागकर भगवान् मुकुन्दके मार्गको प्राप्त किया है, जिनको श्रुतियाँ अनादिकालसे खोज रही हैं। मैं उन श्रीनन्दजीके व्रजकी स्त्रियोंकी चरण-रेणुको बार-बार नमस्कार करता हूँ, जिनका भगवान्‌की लीला-कथाओंका गान त्रिभुवनको पवित्र करता है।'

* न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः ।
या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना ॥
(श्रीमद्भा० १० । ३२ । २२)

परंतु इस माखन-चोरी, चीर-चोरी और रास-रमणके प्रेमराज्यसम्बन्धी रहस्यका किञ्चित् भी तत्त्व समझमें आ जाय तो फिर यह बात भलीभाँति जान ली जाती है कि न तो यह 'चोरी' वस्तुतः चोरी ही है और न वह 'रमण' कोई परस्त्रीसङ्गरूप व्यभिचार ही है।

... शब्दोंको लेकर झगड़नेकी बात तो दूसरी है। तत्त्वज्ञ लोग शब्दोंपर ध्यान नहीं दिया करते, वे प्रसङ्गानुकूल उनके अर्थोंपर ध्यान देते हैं। वेदोंमें और गीतामें भी अच्छे भावोंमें 'काम' शब्दका प्रयोग हुआ है। भगवान् स्वयं एकसे अनेक होनेकी 'कामना' करते हैं।* धर्मसे अविरुद्ध 'काम' को वे अपना स्वरूप बतलाते हैं।† गोपियोंके दिव्य प्रेमको शास्त्रमें 'काम' कहा गया है।‡ श्रुतियोंमें और गीतामें 'रति' शब्द आता है।§ गीतामें 'रमन्ति' शब्द भी आया है। + परंतु इन सबका अर्थ ही दूसरा है। एक 'जन्म' शब्दको ही लीजिये। गीतामें भगवान्के लिये 'जन्म' शब्द आता है। भगवान् अजन्मा हैं परंतु वे स्वयं अर्जुनसे कहते हैं, मेरे कई जन्म हो चुके हैं

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—'प्रियाओ! तुमने घरकी कठिन बेड़ियों-को तोड़कर मेरी सेवा की है, तुम्हारे इसी साधुकार्यका बदला मैं देवताओं-की आयुमें भी नहीं चुका सकता। तुम अपनी ही उदारतासे मुझे इस ऋणसे मुक्त कर सकती हो।'

* 'सोऽकामयत' (तैत्तिरीय० २ । ६)

† 'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ।' (गीता ७ । ११)
अर्थात् हे अर्जुन! धर्मसे अविरुद्ध 'काम' मैं हूँ।

‡ प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत्प्रथाम् ।

§ आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ।
(मुण्डक० ३ । १ । ४)

'यस्त्वात्मरतिरेव स्यात्' (गीता ३ । १७)

\+ तुष्यन्ति च रमन्ति च (गीता १० । ९)

× बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि ...... (गीता ४ । ५)

साथ ही यह भी कहते हैं कि मेरे जन्मके तत्त्वको जाननेवाला 'जन्म' से छूट जाता है। जरा सोचना चाहिये, जिसके 'जन्म' के तत्त्वको जाननेवाला जन्मसे छूट जाता है, उसका जन्म क्या उसी जातिका जन्म है, जिस जातिका उस जन्मसे छूटनेवाले साधारण मनुष्यका जन्म होता है ? वह अजन्माका जन्म है। दिव्य जन्म है। जन्म होनेपर भी वस्तुतः वह जन्म नहीं है। इसी प्रकार भगवान्‌का 'काम'; उनकी 'चोरी', उनकी 'जारी', उनकी 'रति', उनका 'रमण' आदि सभी दिव्य हैं। जिन भगवान्‌का अनन्य भजन करनेवाले मनुष्य गुणातीत हो जाते हैं, उन नित्य निर्गुण भगवान्‌में बहिरंगा प्रकृतिके मलिन विकाररूप दुर्गुणोंकी कल्पना करना मूर्खता नहीं तो और क्या है ?

तब फिर ये क्या हैं ? ये हैं भगवान् श्रीकृष्णकी स्वरूपभूता दिव्य लीलाएँ, जो दिव्य व्रजधाममें, दिव्य व्रजवासियों और दिव्य व्रजबालाओंके साथ दिव्य देहमें दिव्यरूपसे होती हैं। इनमें न प्राकृत चोरी है, न प्राकृत रमण है और न प्राकृत देह है। अधिक क्या, वहाँकी प्रकृति ही प्राकृत नहीं है। इसीलिये यह रहस्य हमारी प्राकृत बुद्धिके ध्यानमें नहीं आता। हमारी बुद्धि बहिरंगा प्रकृतिके कार्यरूप समष्टिबुद्धिका एक अत्यन्त स्थूल रूप है, जो स्वयं प्रकृतिसम्भूत अज्ञानसे इतनी आच्छादित है कि अपने कारणरूप बहिरंगा प्रकृतिका भी रहस्य नहीं जान सकती, फिर इस प्रकृतिसे सर्वथा अतीत दिव्य-

---

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥

(गीता ४।९)

अर्थात् 'अर्जुन ! मेरा जन्म और कर्म दिव्य है, इसको जो पुरुष तत्त्वतः जान लेता है, वह शरीरको त्यागकर फिर जन्मको नहीं प्राप्त होता, वह मुझको ही पाता है।'

राज्यके रहस्यको यह बुद्धि कैसे समझ सकती है ? इसीलिये ऐसे शब्दों-को पढ़-सुनकर हमारी बुद्धिमें मोह होता है और हम श्रीभगवान्‌को अपने ही सरीखे प्राकृत शरीरधारी मनुष्य मानकर और उनकी दिव्य लीलाओंको प्राकृत मनुष्योचित लौकिक क्रिया समझकर उनपर दोषा-रोपणकर, मोहवश उनका अनुकरण करने जाकर या पापबुद्धिकी प्रेरणासे उनकी दिव्य लीलाओंकी आड़में अपने पापका समर्थन करनेकी चेष्टा कर घोर नरककुण्डमें गिर पड़ते हैं ! यह हमारा ही अज्ञान है । अप्राकृत भगवान्‌की अप्राकृत लीलाओंका रहस्य अप्राकृत स्थितिमें पहुँचनेपर ही कोई जान सकता है । इसीलिये गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने ब्रह्मभूत होनेके पश्चात् ही पराभक्तिके द्वारा अपने स्वरूपके यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति बतलायी है ।* यह दुर्लभ स्थिति भगवत्कृपासे ही प्राप्त होती है । इस स्थितिमें पहुँचनेपर भगवान्‌की दिव्य लीलाओं-का जो यथार्थ प्रत्यक्ष होता है, वे मन-वाणीके अगोचर भगवत्स्वरूपमय होती हैं, उनका कोई भी वर्णन नहीं कर सकता ।

हाँ, प्रेमराज्यके बाह्य स्तरकी कुछ स्थूल बातें, जो भगवत्कृपासे शुद्धान्तःकरणवाले पुरुषोंकी समझमें किसी अंशमें आ सकती हैं, उन्हीं-

---

* ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
(गीता १८ । ५४-५५)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

'ब्रह्मभूत होनेपर प्रसन्नात्मा पुरुष न तो किसी वस्तुके लिये शोक करता है, न किसीकी आकाङ्क्षा करता है, वह सब भूतोंमें समभावसे ब्रह्मको देखता है, तब उसे मेरी पराभक्ति प्राप्त होती है और उस पराभक्तिके द्वारा वह मेरे स्वरूप-तत्त्वको यथार्थरूपमें जानता है।'

पर विचार किया जा सकता है और उनके अनुसार गोपियोंके घरमें दधि-माखनकी चोरीलीलाको हम भगवान्‌की 'भक्तपूजा-ग्रहण-लीला', वस्त्रचोरीको 'आवरण-हरण-लीला' और रास-रमणको अत्यन्त गोपनीय 'प्रेम-मिलन-लीला' कह सकते हैं।

भला, क्या कोई कह सकता है कि भगवान् श्रीकृष्णने किसी दिन भी किसी ऐसी गोपीके घरमें घुसकर माखन चुराया था जो उस माखनको अपनी चीज समझती थी और जो भगवान्‌के द्वारा उसके चुरा लिये जानेपर दुखी होती थी? श्रीकृष्णगतप्राणा, श्रीकृष्णभावित-मति गोपिकाओंका तन-मन-धन सभी कुछ श्यामसुन्दर प्राणप्रियतम श्रीकृष्णका था। वे संसारमें जीती थीं श्रीकृष्णके लिये, घरमें रहती थीं श्रीकृष्णके लिये और घरके सारे काम करती थीं श्रीकृष्णके लिये। उनकी निर्मल और योगीन्द्रदुर्लभ पवित्र बुद्धिमें श्रीकृष्णके सिवा अपना कुछ था ही नहीं। श्रीकृष्णके लिये ही, श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेके लिये ही, श्रीकृष्णकी निज सामग्रीसे ही श्रीकृष्णको पूजकर—श्रीकृष्णको सुखी देखकर वे सुखी होती थीं। प्रातःकाल निद्रा टूटनेके समयसे लेकर रातको सोनेतक वे जो कुछ भी करती थीं सब श्रीकृष्णकी प्रीतिके लिये ही करती थीं। यहाँतक कि उनकी निद्रा भी श्रीकृष्णमें ही होती थी। स्वप्न और सुषुप्ति दोनोंमें ही वे श्रीकृष्णकी मधुर और शान्त लीला देखा करती थीं। रातको दही जमाते समय श्यामसुन्दरकी माधुरी छबिका ध्यान करती हुई प्रेममयी प्रत्येक गोपिका यह अभिलाषा करती थी कि 'मेरा दही सुन्दर जमे, श्रीकृष्णके लिये उसे बिलोकर मैं बढ़िया-सा और बहुत-सा माखन निकालूँ और उसे उतने ही ऊँचे छींकेपर रखूँ जितनेपर श्रीकृष्णका हाथ आसानीसे पहुँच सके; फिर मेरे प्राणधन

श्रीकृष्ण अपने सखाओंको साथ लेकर हँसते और क्रीड़ा करते हुए घरमें पदार्पण करें, माखन लूटें और लुटायें, आनन्दमें मत्त होकर मेरे आँगनमें नाचें और मैं किसी कोनेमें छिपकर इस लीलाको अपनी आँखोंसे देखकर जीवनको सफल करूँ।' रातभर गोपी इसी विचारमें रहती। प्रातःकाल जल्दी-जल्दी दही बिलोकर माखन निकालकर छींके-पर रखती। कहीं प्राणधन आकर लौट न जायँ, इसलिये वह सब कामोंको छोड़कर सबसे पहले दही बिलोती और छींकेपर माखन रखनेके बाद श्रीकृष्णकी प्रतीक्षामें व्याकुल हुई मन-ही-मन सोचती,—'हा! आज प्राणधन क्यों नहीं आये, इतना विलम्ब क्यों हो गया! क्या आज इस दासीका घर पवित्र न करेंगे? क्या आज मेरे समर्पण किये हुए माखनका भोग लगाकर स्वयं सुखी होकर मुझे सुखी न करेंगे?' इन्हीं विचारोंमें आँसू बहाती हुई गोपी क्षण-क्षणमें दौड़कर दरवाजेपर जाती; लज्जा छोड़कर राहकी ओर ताकती। 'श्यामसुन्दर आ रहे हैं या नहीं'—सखियोंसे पूछती। एक-एक निमेष उसके लिये युगके समान बीतता। भक्तवाञ्छाकल्पतरु भगवान् श्रीकृष्ण भी अनेक रूपोंमें एक ही साथ ऐसी प्रत्येक गोपीके घर पधारकर भोग लगाते, भक्तको सुखी देखकर सुखी होते और अपने सुखसे भक्तके सुखको अनन्तगुना बढ़ा देते!

अब आप ही बतलाइये, क्या इसका नाम चोरी है? जिस चोरीको स्मृतियोंमें अपराध माना गया है, दूसरेके धनपर मन ललचानेवाले कामनाके गुलाम विषयासक्त पामर प्राणी जिस घृणित चोरीको अपना पेशा मानते हैं, क्या उस चोरीसे इस चोरीकी किसी अंशमें भी तुलना हो सकती है? बड़े पुण्य-बलसे अनन्त जन्मोंके अनन्त सुकृतोंके फल-

स्वरूप भगवच्चरणोंमें मनुष्यकी मति होती है और उस निर्मल मतिसे साधना करते-करते भगवत्कृपासे कभी किसी भक्ति-विशेषके द्वारा ही भगवान्‌के प्रति सर्वस्व समर्पित होता है, तब कहीं गोपिकाओंके इस महान् आदर्शकी कोई छाया उसमें आती है। फिर स्वरूपभूता गोपिकाओंके साथ भगवान्‌की इस प्रेमलीलाको मामूली चोरी समझना बुद्धिभ्रमके सिवा और क्या हो सकता है?

दूसरी चोरी भगवान् श्रीकृष्णने यमुना-तटपर उन महाभाग्यवती गोपकुमारियोंके वस्त्रोंकी की, जो कात्यायनी देवीकी साधना करके प्राण-प्रियतम श्रीकृष्णको प्राणनाथ-रूपमें प्राप्त करना चाहती थीं। गोपियोंका भगवान्‌को प्राप्त करनेकी साधना करना भी प्रेमराज्यकी एक लीला ही थी। स्वरूपभूता गोपिकाओंको श्रीकृष्ण कब अप्राप्त थे? प्रेमका मार्ग दिखलानेके लिये,—प्रेमराज्यमें प्रवेश किस प्रकार हो सकता है, कितने त्यागकी इसमें आवश्यकता है, इसीका दिग्दर्शन करानेके लिये ये सब लीलाएँ थीं! जिस प्रेमराज्यकी माधुरी भक्तोंको चखानेके लिये साक्षात् रसराज रसिकशेखर श्रीकृष्णने दिव्य परिकर और अपने दिव्यधामसहित अवतीर्ण होकर व्रजमें मधुर प्रेमलीलाएँ की थीं, उन्हींमें वस्त्र-हरण भी एक अनोखी लीला थी। यह लीला अत्यन्त रहस्यमयी है। विषयोंके आपातरमणीय नरकराज्यसे निकलकर दिव्य प्रेमराज्यमें प्रवेश किये बिना आनन्दसिन्धु रसराज श्रीकृष्णकी इस लीलाका रहस्य समझमें नहीं आ सकता। विषयमोहसे आवृत लौकिक दृष्टिसे तो भगवान्‌की इस दिव्य लीलामें दोष ही दिखलायी देगा और ऐसे लोगोंके लिये इतना ही उत्तर पर्याप्त है कि श्रीकृष्ण उस समय छः वर्षके बहुत छोटे बालक थे। किसी बुरी नीयतसे गोपियोंके वस्त्रोंको चुराना उनके

लिये बन ही नहीं सकता। अथवा श्रीकृष्णने नदीमें नंगी होकर नहानेकी कुप्रथाको दूर करनेके लिये ऐसा किया था और इसीलिये उनसे कहा भी कि वस्त्रहीन होकर नहानेमें देवताओंका अपमान होता है;* ऐसा नहीं करना चाहिये। परंतु प्रेममार्गके साधक भक्तोंके लिये यही बात नहीं है। उनके लिये तो भगवान् सर्वत्यागका—सारे आवरणोंको हटाकर अपने सामने आनेका पाठ सिखानेके लिये ही यह लीला करते हैं। भगवत्-तत्त्वके ज्ञानमें—मल और विक्षेपरूपी दो बड़े प्रतिबन्धकोंके नाश होनेपर भी—जबतक आवरण रहता है, तबतक बहुत बड़ी बाधा वर्तमान रहती है। आवरणका नाश सहजमें नहीं होता। अज्ञान इस सुकौशलसे जीवकी बुद्धिको ढके रखता है कि वह किसी तरह भी भगवान्‌के सामने निरावरण—बेपर्द होकर जानेकी अनुमति नहीं देती! इस वस्त्र-हरणकी लीलामें भक्तके बाह्याभ्यन्तर सभी प्रकारके आवरण नष्ट हो जानेका तत्त्व निहित है। आनन्द-सौन्दर्य-सुधा-निधि रसराजका चिदानन्द-रसमय रूप ही ऐसा मधुर है कि उसके सामने आनेपर किसी प्रकारकी सुधि नहीं रहती। देह-गेह, लज्जा-संकोच, मान-अपमान, अपना-पराया, लोक-परलोक—सभी कुछ उस अनुपम रूपसरिताकी प्रखर धारामें बह जाते हैं। फिर बाह्य वस्त्रोंके आवरणकी तो बात ही क्या है? गोपियोंमें बाह्याभ्यन्तर भगवान्‌के साथ कोई आवरण था—यह बात नहीं है। जिन श्रीकृष्णके एक बार सच्चे हृदयसे स्मरणमात्र करनेसे मायाके समस्त बन्धन सदाके लिये टूट जाते हैं, अज्ञानका मोटा पर्दा हमेशाके लिये

---

* 'यूयं विवस्त्रा यदपो धृतव्रता व्यगाहतैतत्तदु देवहेलनम्।'
(श्रीमद्भा० १०। २२। १९)

फट जाता है, उन भगवान्‌का साक्षात् सङ्ग प्राप्त करनेवाली—उनके तत्त्वका नित्य अनुभव करनेवाली—उनकी दिव्य प्रेमलीलाओंमें सहायता करनेके लिये ही, उन्हींकी इच्छासे प्रकट होनेवाली उन्हींकी अपनी स्वरूपभूता दिव्य शक्तिसे विभिन्न स्वरूपोंमें प्रकट हुई गोपिकाओंमें किसी आवरणकी कल्पना करना तो भगवदपराध ही है। गोपिकाओंकी और भगवान्‌की ये लीलाएँ तो प्रेममार्गीय भक्तोंके लिये आदर्श मार्गदर्शिकारूपमें हुई हैं। जिस प्रेमके प्राकट्यमें तन-मनकी कुछ भी सुधि नहीं रहनी चाहिये, जिस प्रेमके दिव्य देशमें प्रेमास्पदके सामने उसकी प्राप्तिमें व्यवधानरूप या प्रेममें कलंकरूप कोई भी आवरण नहीं रहना चाहिये, उस प्रेममें गोपिकाओंको आवरणरहित बनानेकी चेष्टामें भगवान्‌का वस्त्र-हरण-लीला करना कैसे दूषित हो सकता है? जब साधारण लौकिक प्रेममें भी प्रेमी और प्रेमास्पदमें किसी आवरणकी गुंजाइश नहीं, तब एक ही भगवान्‌के द्विविधरूप रसराज और महाभावके पूर्ण मिलनमें वस्त्रावरणकी बाधा कैसे रह सकती है? प्रेमसाम्राज्यके सम्राट्, प्रेमतत्त्वके मूलाधार दिव्यप्रेमविग्रह और समस्त जीवोंके आत्मारूप श्रीकृष्णके सामने कौन पर्देमें रह सकता है? अणु-अणुमें व्यापक विभु परमात्मा श्रीकृष्णके सामने अपना कोई भी अङ्ग कैसे छिपाकर रक्खा जा सकता है? मोहग्रस्त जीव अज्ञानवश अन्तर्यामीको न पहचानकर ही उनसे छिपने-छिपानेकी व्यर्थ चेष्टा किया करता है। परंतु भक्त अपने आपेको उन्हींकी चीज मानकर उनके सामने खोल देता है और जहाँ भक्त होकर भी कोई इस आपेको खोलनेमें उसे किसी कारणसे संकोच होता है, वहाँ भक्तवत्सल भगवान् स्वयं उसको निरावरण कर अपने और उसके बीचके व्यवधानको पूर्णतया दूर करके दृढ़ आलिङ्गनके साथ उसे अपने आनन्दमय रससिन्धुमें डुबोकर

रसमय बनानेके उद्देश्यसे जबरदस्ती उसके आवरणको हर लेते हैं। यही वस्त्रहरणलीलाका स्थूल रहस्य है। क्या इस लीलामें किसी भी समझदार पुरुषको बुरी नीयतका संदेह हो सकता है? क्या इस आवरण-भङ्गलीलाको कोई विज्ञ पुरुष चोरी कह सकते हैं?

भगवान् तो इतना ही नहीं करते, वे सबसे पहले तो भक्तके मनको चुरा लेनेका प्रयत्न करते हैं और जो भक्त भगवान्‌को अपना मन देना चाहता है अन्तमें उस मनको वे चुरा ही लेते हैं! जिसका मन चोरा गया वह फिर उस मनचोरसे अलग कैसे हो सकता है? इसीलिये गोपियोंकी लीलामें गोपियोंका श्रीकृष्णमें निरन्तर निवास दिखलाया जाता है। भक्तराज लीलाशुक चोरशिरोमणि बालकृष्णके लिये कहते हैं—

मा यात पान्थाः पथि भीमरथ्या
दिगम्बरः कोऽपि तमालनीलः।
विन्यस्तहस्तोऽपि नितम्बबिम्बे
धूतः समाकर्षति चित्तवित्तम्॥

'अरे पथिको! उस पथसे न जाना, वह गली बड़ी भयानक है। वहाँ अपने नितम्बबिम्बपर हाथ रक्खे जो तमालके तुल्य नीलवर्ण-का एक दिगम्बर बालक खड़ा है, वह केवल देखनेमात्रको ही अवधूत है, असलमें तो वह अपने समीपसे निकलनेवाले किसी भी मुसाफिरके मनरूपी धनको लूटे विना नहीं रहता।' धन्य है इस चोरको और इसकी चित्तहरनी चोरीको!

अबतक तो चोरीके महत्त्वपर विचार हुआ, अब जारके अर्थ-पर कुछ विचार करना है। यह बात तो पहले कही ही जा चुकी

है कि सब जीवोंके आत्मा होनेके कारण भगवान्में कभी औपपत्य-की—जारपनेकी कल्पना ही नहीं हो सकती; परंतु यहाँ साकार दिव्य मङ्गल-विग्रह भगवान्को जो 'जारशिखामणि' कहा गया—इसी-पर विचार करना है। भगवत्सम्बन्धी रसोंमें प्रधान रस पाँच हैं—(१) शान्त, (२) दास्य, (३) सख्य, (४) वात्सल्य और (५) माधुर्य। इन पाँच रसोंका प्रयोग लौकिक प्रेममें भी होता है, परंतु भगवान्के साथ सम्बन्ध होनेसे ये पाँचों रस भक्तिके या भगवत्-प्रेमके उत्तरोत्तर बढ़े हुए पाँच भाव बन जाते हैं। इन पाँचोंमें सबसे ऊँचा रस है—माधुर्य। माधुर्यमें शान्त, दास्य, सख्य और वात्सल्य चारों ही रहते हैं। यह रस प्रेमका सर्वोच्च विकसित रूप होनेसे अत्यन्त ही स्वादु है। इस रसके रसिक लोग भोग-मोक्ष सबको तृणवत् त्यागकर भगवत्प्रेममें मतवाले रहते हैं। इसीसे इसका नाम मधुर है। शान्तरसमें शुद्धान्तःकरणकी भगवदभिमुखी वृत्तिका विकास-मात्र होता है। दास्यमें भगवत्सेवाका तो अधिकार है, परंतु भगवान् इसमें ऐश्वर्यशाली हैं, स्वामी हैं, सेव्य हैं और भक्त दीन है, दास है और सेवक है। इसमें कुछ अलगाव-सा है; भय और संकोच-सा है। परंतु सख्य, वात्सल्य और माधुर्यमें क्रमशः भगवान् अधिकाधिक निकटतम निजजन होते चले जाते हैं। सख्यमें ऐश्वर्य अप्रकट-सा और प्रेम प्रकट-सा रहता है। वात्सल्यमें ऐश्वर्यकी कभी-कभी छाया-सी आती है,—भक्तमें स्नेहका विकास रहता है और माधुर्यमें तो भगवान् अपने सारे ऐश्वर्यको भुलाकर—अपनी विभूतिको मिटाकर प्रियतम कान्तरूपमें भक्तके सामने प्रकट रहते हैं। इस रसमें न

प्रार्थना है, न कामना है, न भय है और न संकोच है। समय-विशेषपर प्रसङ्गानुकूल व्यवहारमें पूर्वोक्त चारों रसोंके दर्शन होनेपर भी प्रधान रस मधुर ही रहता है। प्रियतम मेरा है और मैं प्रियतमका हूँ; उसका सब कुछ मेरा है और मेरा तो एकमात्र प्रियतमको छोड़कर और कुछ है ही नहीं। इस रसमें भगवान्‌की जो सेवा होती है वह मालिककी नहीं, प्रियतमकी होती है। प्रियतमके सुखी होनेमें ही प्रेमीको अपार सुख है, इसलिये सेवा भी अपार ही होती है। इस माधुर्यभावमें दो प्रकार हैं—स्वकीया और परकीया। अपनी स्त्रीके साथ विवाहित पतिका जो प्रेम होता है उसे स्वकीया-भाव कहते हैं और अन्य स्त्रीके साथ जो परपुरुषका प्रेमसम्बन्ध होता है उसे परकीयाभाव कहते हैं। लौकिक प्रेममें इन्द्रियसुखकी प्रधानता होनेके कारण परकीयाभाव पाप है, घृणित है और नरकका कारण है; अतएव सर्वथा त्याज्य है। क्योंकि लौकिक परकीयाभावमें अङ्ग-सङ्गकी घृणित कामना है और प्रेमास्पद 'जार' पुरुष है, परंतु भगवत्प्रेमके दिव्य कान्ताभावमें परकीयाभाव स्वकीयासे कहीं श्रेष्ठ है; क्योंकि इसमें अङ्ग-सङ्गकी या इन्द्रियसुखकी कोई आकाङ्क्षा नहीं है और प्रेमास्पद 'जार' नहीं, परंतु पति-पुत्रोंके, अपने और समस्त विश्वके आत्मा स्वयं भगवान् हैं। स्वकीयाभावमें भी पतिव्रता पत्नी अपना नाम-गोत्र, मन-प्राण, धन-धर्म, लोक-परलोक—सभी कुछ पतिके अर्पणकर जीवनका प्रत्येक क्षण पतिकी सेवामें ही बिताती है, परंतु उसमें चार बातोंकी परकीयाकी अपेक्षा कमी होती है। प्रियतमका निरन्तर चिन्तन, मिलनकी अत्यन्त उत्कट अतृप्त उत्कण्ठा, प्रियतममें किसी भी दोष-का न दीखना और कुछ भी न चाहना—ये चार बातें निरन्तर एक साथ निवास होनेके कारण स्वकीयामें नहीं होतीं, इसीलिये परकीया-

भाव श्रेष्ठ है। भगवान्‌से नित्यमिलनका अभाव न होनेपर भी परकीयाभावकी प्रधानताके कारण गोपियोंको भगवान्‌का क्षणभरका अदर्शन भी असह्य होता था।* वे हरेक काम करते समय निरन्तर श्रीकृष्णका चिन्तन करती थीं † और श्रीकृष्णकी प्रत्येक क्रिया उन्हें ऐसी दिव्य गुणमयी दीखती थी कि एक क्षणभरके लिये भी उनसे

---

* अटति यद्भवानह्नि काननं त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्।
कुटिलकुन्तलं श्रीमुखं च ते जड उदीक्षतां पक्ष्मकृद् दृशाम्॥
(श्रीमद्भा० १०। ३१। १५)

गोपियाँ कहती हैं—'श्यामसुन्दर! जब आप दिनके समय वनमें विचरते हैं, तब आपको न देख सकनेके कारण हमारे लिये एक-एक पल युगके समान बीतता है। फिर शामको जब वनसे लौटते समय हम घुँघराली अलकावलियोंसे सुशोभित आपके श्रीमुखको देखती हैं, तब हमें आँखोंकी पलक बनानेवाले ब्रह्मा मूर्ख प्रतीत होते हैं। (क्योंकि पलक पड़ना हमें सहन नहीं होता)।'

† या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः॥
(श्रीमद्भा० १०। ४४। १५)

'जो गोपियाँ गायोंका दूध दूहते समय, धान आदि कूटते समय, दही बिलोते समय, आँगन लीपते समय, बालकोंको पालना झुलाते समय, रोते हुए शिशुओंको लोरी देते समय, घरोंमें झाड़ू लगाते समय प्रेमभरे हृदयसे आँखोंमें आँसू भरकर गद्गद वाणीसे श्रीकृष्णका नाम-गुण-गान किया करती हैं, उन श्रीकृष्णमें चित्त निवेशित करनेवाली गोपरमणियोंको धन्य है।'

उनका चित्त हटाये नहीं हटता था। अवश्य ही यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि यह परकीयाभाव केवल व्रजमें अर्थात् लौकिक विषयवासनासे सर्वथा विमुक्त दिव्य प्रेमराज्यमें ही सम्भव है! इसीलिये श्रीचैतन्यचरितामृतमें कहा गया है—

परकीयाभावे अति रसेर उल्लास।
व्रज बिना इहार अन्यत्र नाहिं वास॥

सर्वोच्च मधुर रसके उच्चतम परकीयाभावका उल्लास व्रजको अर्थात् दिव्य प्रेमराज्यको छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं होता। इसीलिये इस प्रेमराज्यके सम्राट् भगवान् श्रीकृष्ण व्रजको छोड़कर इस रूपमें अन्यत्र कहीं नहीं मिलते—

वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति।

गोपियोंका श्रीकृष्णप्रेम इस परकीयाभावका था। इसीसे उनके लिये 'जारबुद्ध्यापि सङ्गताः' कहा गया है। जारबुद्धि अर्थात् जारभाव था, न कि विषय-वासनायुक्त कामप्रेरित घृणित मनोविकार!

भगवान्‌की अन्तरङ्गा शक्तियोंमें 'ह्लादिनी शक्ति' सर्वप्रधान है। यही भगवान्‌की 'स्वा प्रकृति' 'आत्ममाया' या योगमाया हैं। भगवान्‌का रसराजरूपमें प्राकट्य इसी ह्लादिनी शक्तिके निमित्तसे हुआ है। वास्तवमें शक्ति और शक्तिमान्‌के स्वरूपमें कोई भेद नहीं है, दिव्य लीलामें स्वयं भगवान् ही अपने सौन्दर्य और माधुर्यका दिव्य रसास्वादन करनेके लिये ह्लादिनी शक्तिसे महाभावरूपिणी श्रीराधाके रूपमें प्रकट होते हैं और उसीसे विभिन्न लीलाओंके लिये असंख्य शक्तियाँ भी प्रकट होती हैं, जो रसराज श्रीकृष्ण और महाभावरूपा-

श्रीराधाकी प्रेम-लीलामें श्रीराधाकी सहचरी होकर रहती हैं। श्रीराधा-कृष्णके प्रेममिलनमें इन सबका संयोग रहता है और यही श्रीगोपियाँ हैं। इन गोपियोंका दिव्य वंशीध्वनिसे शारदीया पूर्णिमाकी रात्रिको भगवान् आवाहन करते हैं। भगवान्‌के आवाहनको सुनकर भला किससे रहा जा सकता है? जिन गोपियोंका चित्त श्रीकृष्णने चुरा लिया है, वे 'कृष्णगृहीतमानसाः' गोपियाँ उस दिव्य अनङ्गवर्धन वंशीसंगीतको सुनकर—जो जिस अवस्थामें थीं—उसी अवस्थामें प्रियतमसे मिलनेके लिये भाग निकलती हैं; परंतु स्थूल देहसे नहीं। उनका वह देह तो वहीं रह जाता है जिसको प्रत्येक गोप अपने पास सोया हुआ देखता है—

मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान्
स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः॥
(श्रीमद्भा० १०। ३३। ३८)

अर्थात् व्रजवासियोंने रासमें गयी हुई अपनी पत्नियोंको अपने पासमें ही सोयी हुई देखा।

ये सब जाती हैं दिव्य भावदेहसे जो स्थूल, सूक्ष्म और कारणसे परे, केवल व्रजप्रेमलीलाके सम्पादनार्थ ही प्रकट हुआ था और उन्हीं दिव्य-भावदेहोंमें सच्चिदानन्दघन, योगेश्वरेश्वर, साक्षात् मन्मथ-मन्मथ, आप्तकाम, सत्यकाम, पूर्णकाम, दिव्य, चिदानन्दमय मङ्गलविग्रह भगवान् योगमायाको आश्रित करके रमणकी इच्छा करते हैं और प्रत्येक भावदेहरूपा चिदानन्दमयी गोपीके साथ एक ही साथ अनेक रूपोंमें प्रकट होकर रासक्रीडा करते और आत्मारामरूपसे रमण करते हैं। वह रमण किस प्रकारका होता है। इसपर मुनिवर श्रीशुकदेवजी कहते हैं—

रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभि-
र्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः ॥
(श्रीमद्भा० १० । ३३ । १७)

'जैसे बालक दर्पणमें अपने रूपको देखकर उसके साथ स्वच्छन्द खेलता है, उसी प्रकारसे लक्ष्मीपति भगवान् श्रीकृष्णने व्रजसुन्दरियोंके साथ रमण किया।' यह है संक्षेपमें भगवान्‌के जाररूपकी स्थूल व्याख्या! भला, इस दिव्य प्रेमलीलाको—परमात्माकी और जीवात्मा-की या भगवान् और भक्तकी इस आदरणीय मिलनलीलाको कोई व्यभिचार कह सकता है?

केवल दही, माखन और वस्त्र ही नहीं, समस्त गोपियोंके सम्पूर्ण मन-प्राणको चुरा लेनेके कारण और एक-दोके साथ नहीं किंतु असंख्य देहोंमें, असंख्य आत्मारूपसे निवास करनेवाले परमात्माके खेलकी भाँति, अगणित चिदानन्दमयी गोपियोंके साथ आत्म-रमण करनेके कारण रसानुभूतिको प्राप्त भाग्यवती गोपियोंने डंकेकी चोट भगवान् श्रीकृष्णको 'चोर-जार-शिखामणि' कहा और ठीक ही कहा!!

अवश्य ही कुछ विषयकामी पुरुषोंने भगवान्‌की इस दिव्यलीला-को लौकिक चोरी-जारी मानकर इसका दुरुपयोग किया और अब भी कर रहे हैं, परंतु उनके ऐसा करनेसे न तो भगवान्‌के दिव्यभावमें कोई अन्तर पड़ सकता है और न गोपियोंका ही कुछ बिगड़ सकता है! हाँ, बुरी नीयतसे कवितामें, भावोंमें, आचरणमें, उपदेशमें और समझनेमें इसका दुरुपयोग करनेवाले नर-नारी अवश्य ही पापके भागी और नरकगामी होते हैं!

श्रीवृषभानुनन्दिनीसे प्रार्थना

सच्चिदानन्दघन दिव्यसुधा-रस-सिन्धु व्रजेन्द्रनन्दन राधावल्लभ श्याम सुन्दर श्रीकृष्णचन्द्रका नित्य निवास है प्रेमधाम व्रजमें और उनका चलना-फिरना भी है व्रजके मार्गमें। यह मार्ग चित्तवृत्तिनिरोध-सिद्ध महाज्ञानी योगीन्द्र-मुनीन्द्रोंके लिये अत्यन्त दुर्गम है। व्रजका मार्ग तो उन्हींके लिये प्रकट होता है, जिनकी चित्तवृत्ति प्रेमघन-रस-सुधा-सागर आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रके चरणारविन्दोंकी ओर नित्य निर्बाध प्रवाहित रहती है;—जहाँ न निरा निरोध है और न उन्मेष ही, बल्कि दोनोंकी चरम सीमाका अपूर्व मिलन है। इस पथपर अबाध विहरण करती हुई वृषभानुनन्दिनी रासेश्वरी श्रीश्रीराधारानीका दिव्य वसनाञ्चल विश्वकी विशिष्ट चिन्मय सत्ताको कृतकृत्य करता हुआ नित्य खेलता रहता है, किसी समय उस वसनाञ्चलके द्वारा स्पर्शित धन्यातिधन्य पवन-लहरियोंका अपने श्रीअङ्गसे स्पर्श पाकर योगीन्द्र-मुनीन्द्र-दुर्लभ-गति श्रीमधुसूदनपर्यन्त अपनेको परम कृतार्थ मानते हैं, उन श्रीराधारानीके प्रति हमारे मन, प्राण, आत्मा सबका नमस्कार!

यस्याः कदापि वसनाञ्चलखेलनोत्थ-
धन्यातिधन्यपवनेन कृतार्थमानी।
योगीन्द्रदुर्गमगतिर्मधुसूदनोऽपि
तस्या नमोऽस्तु वृषभानुभुवो दिशेऽपि॥

जो सबके हृदयान्तरालमें नित्य-निरन्तर साक्षी और नियन्तारूपसे विराजमान रहनेपर भी सबसे पृथक् गोपवधूटीविटरूपमें वर्तमान रहते

हैं, जो समस्त बन्धनोंको तोड़कर सर्वथा उच्छृङ्खलताको प्राप्त हैं, जिनके स्वरूपका सम्यक् ज्ञान ब्रह्मा, शङ्कर, शुक, नारद और भीष्मादि 'महतो महीयान्' पुरुषोंको भी नहीं है, अतएव वे हार मानकर मौन हो जाते हैं, उन सर्वनियमातीत, सर्वबन्धनविमुक्त, नित्यस्ववश, परात्पर परम पुरुषोत्तमको भी जो श्रीराधिका-चरण-रेणु इसी क्षण वशमें करनेकी अनन्त शक्ति रखता है, उस अनन्तशक्ति श्रीराधिका-चरण-रेणुका हम अपने अन्तस्तलसे बार-बार भक्तिपूर्वक स्मरण करते हैं।

यो ब्रह्मरुद्रशुकनारदभीष्ममुख्यै-
राळक्षितो न सहसा पुरुषस्य तस्य।
सद्यो वशीकरणचूर्णमनन्तशक्तिं
तं राधिकाचरणरेणुमनुस्मरामि॥

विश्वप्रकृतिके प्रत्येक स्पन्दनमें बिन्दुरूपसे जो विदग्ध-भाव, अनुराग, वात्सल्य, कृपा, लावण्य, रूप (सौन्दर्य) और केलिरस (माधुर्य) वर्तमान है—रासेश्वरी, नित्य-निकुञ्जेश्वरी श्रीवृषभानुनन्दिनी उन्हीं सातों रसोंकी अनन्त अगाध उदधि हैं। इस प्रकार नित्यानन्दरसमय सप्त-समुद्रवती श्रीराधिका श्यामसुन्दर आनन्दकन्दके नित्य दिव्य रमणानन्दमें अनादिकालसे ही उन्मादिनी हैं—नित्य कुलत्यागिनी हैं। इन्हींके सहज सरल स्वच्छभावके शुद्ध रससे, इन्हींके भावानुरागरूप दधिमण्डसे, इन्हींकी वात्सल्यमयी दुग्ध-धारासे, इन्हींकी परम स्निग्ध घृतवत् अपार कृपासे, इन्हींकी लावण्य-मदिरासे, इन्हींके छविरूप सुन्दर मधुर इक्षुरससे और इन्हींके केलिविलासविन्यासरूप क्षारतत्त्वसे समस्त अनन्त विश्वब्रह्माण्ड नित्य अनुरञ्जित, अनुप्राणित और ओतप्रोत हैं।

ऐसी अनन्त विचित्र सुधारसमयी, प्राणमयी, विश्वरहस्यकी चरम तथा सार्थक मीमांसामूर्ति श्रीवृषभानुनन्दिनीका दिव्य स्फुरण जिसके जीवनमें नहीं हो पाया, उसका सभी कुछ व्यर्थ—अनर्थ है। देवी राधिके! अपने ऐसे दिव्य स्फुरणसे मेरे हृदयको कृतार्थ कर दो।

> **वैदग्ध्यसिन्धुरनुरागरसैकसिन्धु-**
> **र्वात्सल्यसिन्धुरतिसान्द्रकृपैकसिन्धुः।**
> **लावण्यसिन्धुरमृतच्छविरूपसिन्धुः**
> **श्रीराधिका स्फुरतु मे हृदि केलिसिन्धुः॥**

श्रीराधिके! वह शुभ सौभाग्य-क्षण कब होगा, जब तुम्हारे नाम-सुधा-रसका आस्वादन करनेके लिये मेरी जिह्वा विह्वल हो जायगी, जब तुम्हारे चरणचिह्नोंसे अङ्कित वृन्दारण्यकी वीथियोंमें मेरे पैर भ्रमण करेंगे—मेरे सारे अङ्ग उसमें लोट-लोटकर कृतार्थ होंगे, जब मेरे हाथ केवल तुम्हारी ही सेवामें नियुक्त रहेंगे, मेरा हृदय तुम्हारे चरण-पद्मोंके ध्यानमें लगा रहेगा और तुम्हारे इन भावोत्सवोंके परिणामरूप मुझे तुम्हारे प्राणनाथके चरणोंकी रति प्राप्त होगी—मैं तुम्हारे ही सुख-साधनके लिये तुम्हारे प्राणनाथकी प्रणयिनी बननेका अधिकार प्राप्त करूँगा।

> राधानामसुधारसं रसयितुं जिह्वास्तु मे विह्वला
> पादौ तत्पदकाङ्कितासु चरतां वृन्दाटवीवीथिषु।
> तत्कर्मैव करः करोतु हृदये तस्याः पदं ध्यायतात्
> तद्भावोत्सवतः परं भवतु मे तत्प्राणनाथे रतिः॥

श्रीराधाजी कौन थीं ?

प्रश्न—१. 'ऐसा कहा जाता है कि श्रीराधाजी श्रीभगवान्‌की ह्लादिनी शक्ति या आदिशक्ति हैं। अगर श्रीभगवान्‌की आदिशक्ति श्रीराधाजी हैं तो श्रीरुक्मिणीजी कौन शक्ति हैं? हम-जैसे लोग जैसे श्रीसीताजीको आदिशक्ति मानते हैं, वैसे ही श्रीरुक्मिणी-जीको भी। श्रीराधाजीका नाम श्रीमद्भागवतमें कहीं नहीं है। अगर आदिशक्ति थीं तो ये भगवान्‌के साथ क्यों नहीं रहीं? लौकिक रीतिसे इनसे विवाह होना चाहिये था।'

प्रश्न—२. 'गोपियोंका प्रेम शुद्ध कामरहित था या कैसा?'

उत्तर—आपके प्रश्नोंका उत्तर देना बहुत ही कठिन है; क्योंकि मेरे विश्वासके अनुसार श्रीराधाकृष्णतत्त्व सर्वथा अप्राकृत है, इनका विग्रह अप्राकृत है, इनकी समस्त लीलाएँ अप्राकृत हैं, जो अप्राकृत क्षेत्रमें, अप्राकृत मन-बुद्धि-शरीरसे अप्राकृत पात्रोंमें हुई थीं। *

---

* श्रीभगवान्‌के देहादि यदि उस मायाके कार्य पञ्चमहाभूतोंसे निर्मित प्राकृत होते जो माया आवरणरूपा है, तो मायातीत, गुणातीत, आत्माराम मुनिगण भगवान्‌के सौन्दर्य, उनके अङ्ग-गन्ध, उनकी चरणधूलिके लिये लालायित न होते।

अप्राकृत लीलाको देखने, सुनने, कहने और समझनेके लिये अप्राकृत नेत्र, कर्ण, वाणी और मन-बुद्धि चाहिये। अतएव मुझ-सा प्राकृत प्राणी, प्राकृत मन-बुद्धिसे कैसे इस तत्त्वको जान सकता है और कैसे प्राकृत वाणीमें उसका वर्णन कर सकता है? अतएव इस सम्बन्धमें मैं जो कुछ भी लिख रहा हूँ, उससे किसीको यह न समझना चाहिये कि मैं जो कहता हूँ यही तत्त्व है, इससे परे और कुछ नहीं है; न यह मानना चाहिये कि मैं किसी मतविशेषपर आक्षेप करता हूँ, या किसी तार्किकका मुँह बंद करनेके लिये ऐसा लिखता हूँ, अथवा आग्रहपूर्वक अपना विश्वास दूसरोंपर लादना चाहता हूँ। मेरा यह कहना कदापि नहीं है कि मेरी लिखी बातोंको पाठक मान लें। यह तो सिर्फ अपने विश्वासकी बात—शास्त्र और संतोंद्वारा सुनी हुई—अपने कल्याणके लिये लिखी जा रही है। जिन सज्जनने ये प्रश्न किये, उनका मैं हृदयसे कृतज्ञ हूँ; क्योंकि इसी बहाने मुझ क्षुद्रका थोड़ा-सा समय श्री-भगवान्‌की चर्चामें चला गया। मैं प्रश्नोत्तर और तर्कके लिये कोई बात नहीं लिख रहा हूँ। अतएव मेरी प्रार्थना है कि पाठकगण तर्क-बुद्धिका आश्रय कर मुझसे इसके सम्बन्धमें कोई प्रश्नोत्तरकी आशा कृपया न रक्खें। विवादमें तो मैं अपनी हार पहले ही स्वीकार कर लेता हूँ; क्योंकि मैं इस विषयपर तर्क करना ही नहीं चाहता। अवश्य ही मेरे विश्वासका बदलना तो अन्तर्यामी प्रभुकी इच्छापर ही अवलम्बित है।

परिपूर्णतम, परमात्मा, परात्पर, सच्चिदानन्दघन, निखिल ऐश्वर्य, माधुर्य और सौन्दर्यके सागर, दिव्य सच्चिदानन्दविग्रह आनन्दकन्द

भगवान् श्रीकृष्ण और भगवान् श्रीराममें मैं कोई भी भेद नहीं मानता और इसी प्रकार भगवती श्रीराधाजी, श्रीरुक्मिणीजी और श्रीसीताजी आदिमें भी मेरी दृष्टिसे कोई भेद नहीं है । भगवान्‌के विभिन्न सच्चिदानन्दमय दिव्य लीला-विग्रहोंमें विभिन्न नाम-रूपोंसे उनकी ह्लादिनी शक्ति साथ रहती ही है । नाम-रूपोंमें पृथक्ता दीखनेपर भी वस्तुतः वे सब एक ही हैं । स्वयं श्रीभगवान्‌ने ही श्रीराधाजीसे कहा है—

> यथा त्वं राधिका देवी गोलोके गोकुले तथा ।
> वैकुण्ठे च महालक्ष्मीर्भवती च सरस्वती ॥
> भवती मर्त्यलक्ष्मीश्च क्षीरोदशायिनः प्रिया ।
> धर्मपुत्रवधूस्त्वं च शान्तिर्लक्ष्मीस्वरूपिणी ॥
> कपिलस्य प्रिया कान्ता भारते भारती सती ।
> द्वारवत्यां महालक्ष्मीर्भवती रुक्मिणी सती ॥
> त्वं सीता मिथिलायां च त्वच्छाया द्रौपदी सती ॥
> × × × × ×
> रावणेन हृता त्वं च त्वं च रामस्य कामिनी ॥
>
> (ब्रह्मवैवर्तपुराण, कृष्णखण्ड अ० १२६)

'हे राधे ! जिस प्रकार तुम गोलोक और गोकुलमें श्रीराधिका-रूपसे रहती हो, उसी प्रकार वैकुण्ठमें महालक्ष्मी और सरस्वतीके रूपमें विराजमान हो । तुम ही क्षीरसागरशायी भगवान् विष्णुकी प्रिया मर्त्यलक्ष्मी हो । तुम ही धर्मपुत्रकी कान्ता लक्ष्मी-स्वरूपिणी शान्ति हो । तुम ही भारतमें कपिलकी प्रिय कान्ता सती भारती हो, तुम ही द्वारकामें महालक्ष्मी रुक्मिणी हो । तुम्हारी ही छाया सती द्रौपदी

है। तुम ही मिथिलामें सीता हो। तुम्हींको रामकी प्रिया सीताके रूपमें रावणने हरण किया था।'

भगवान्‌के दिव्यलीलाविग्रहोंका प्राकट्य ही वास्तवमें आनन्दमयी ह्लादिनी शक्तिके निमित्तसे ही है। श्रीभगवान् अपने निजानन्दको परिस्फुट करनेके लिये अथवा उसका नवीन रूपमें आस्वादन करनेके लिये ही स्वयं अपने आनन्दको प्रेमविग्रहोंके रूपमें प्रकट करते हैं और स्वयं ही उनसे आनन्दका आस्वादन करते हैं। भगवान्‌के उस आनन्दकी प्रतिमूर्ति ही प्रेमविग्रहरूपा श्रीराधारानीजी हैं, और यह प्रेमविग्रह सम्पूर्ण प्रेमोंका एकीभूत समूह है। अतएव श्रीराधिकाजी प्रेममयी हैं और भगवान् श्रीकृष्ण आनन्दमय हैं। जहाँ आनन्द है वहीं प्रेम है और जहाँ प्रेम है वहीं आनन्द है। आनन्दरससारका घनीभूत विग्रह श्रीकृष्ण हैं और प्रेमरससारकी घनीभूत मूर्ति श्रीराधा-रानी हैं। अतएव श्रीराधा और श्रीकृष्णका विछोह कभी सम्भव ही नहीं। न श्रीराधाके बिना श्रीकृष्ण कभी रह सकते हैं और न श्रीकृष्ण-के बिना श्रीराधाजी। श्रीकृष्णके दिव्य आनन्दविग्रहकी स्थिति ही दिव्य प्रेमविग्रहरूपा श्रीराधाजीके निमित्तसे है। श्रीराधारानी ही श्रीकृष्णकी जीवनस्वरूपा हैं और इसी प्रकार श्रीकृष्ण ही श्रीराधाके जीवन हैं। दिव्य प्रेमरससारविग्रह होनेसे ही श्रीराधारानी महाभाव-रूपा हैं और वह नित्य-निरन्तर आनन्दरससार, रसराज, अनन्त ऐश्वर्य—अनन्त-सौन्दर्य-माधुर्य-लावण्यनिधि, सच्चिदानन्दसान्द्राङ्ग, अचिन्त्यशक्ति, आत्मारामगणाकर्षी, प्रियतम श्रीकृष्णको आनन्द प्रदान करती रहती हैं। इस ह्लादिनी शक्तिकी लाखों अनुगामिनी

शक्तियाँ मूर्तिमती होकर प्रतिक्षण सखी, सहेली, सहचरी और दूती आदि रूपोंसे श्रीराधाकृष्णकी सेवा किया करती हैं; श्रीराधाकृष्णको सुख पहुँचाना और उन्हें प्रसन्न करना ही इनका एकमात्र कार्य होता है। इन्हींका नाम श्रीगोपीजन है।

नित्य आनन्दमय, नित्य तृप्त, नित्य एकरस, कोटि-कोटि-ब्रह्माण्ड-विग्रह, पूर्णब्रह्म परमात्मामें सुखेच्छा कैसे हो सकती है? यह प्रश्न युक्तिसंगत प्रतीत होनेपर भी इसीको सिद्धान्त नहीं माना जा सकता। भाव और प्रेम परमात्मासे पृथक् वस्तु नहीं हैं। प्रेमाश्रयका भाव प्रेमविषयमें और प्रेम-विषयका भाव प्रेमाश्रयमें अनुभूत हुआ करता है। श्रीगोपीजन प्रेमका आश्रय हैं और श्रीकृष्ण प्रेमके विषय हैं। श्रीगोपियोंका अप्राकृत दिव्य भाव ही परब्रह्ममें दिव्य सुखेच्छा उत्पन्न कर देता है। प्रेमका महान् उच्च भाव ही उस पूर्णकाममें कामना, नित्यतृप्तमें अतृप्ति, क्रियाहीनमें क्रिया और आनन्दमयमें आनन्दकी वासना जाग्रत् कर देता है। अवश्य ही यह सुखेच्छा, कामना, अतृप्ति, क्रिया या वासना जड इन्द्रियजन्य नहीं है, इस मर्त्य जगत्की मायामयी वस्तु नहीं है; क्योंकि वह दिव्य आनन्द और दिव्य प्रेम अभिन्न हैं। श्रीकृष्ण और श्रीराधारानी सदा अभिन्न हैं। श्रीभगवान् कहते हैं—

यथा त्वं च तथाहं च भेदो हि नावयोर्ध्रुवम्।
यथा क्षीरे च धावल्यं यथाग्नौ दाहिका सति॥
यथा पृथिव्यां गन्धश्च तथाहं त्वयि संततम्।
(ब्रह्मवैवर्त० कृष्णखण्ड १४। ५८–५९)

'जो तुम हो, वही मैं हूँ। हम दोनोंमें किञ्चित् भी भेद नहीं है, जैसे दूधमें सफेदी, अग्निमें दाहिका शक्ति और पृथिवीमें गन्ध रहती है उसी प्रकार मैं सदा तुममें रहता हूँ।'

यही बात भगवान् श्रीराम और मिथिलेशकुमारी श्रीसीताजी, भगवान् श्रीमहाविष्णु और जगज्जननी महालक्ष्मी, भगवान् श्रीशङ्कर और महामाया श्रीगौरीदेवीके विषयमें समझनी चाहिये। भगवान् श्रीकृष्ण और माता श्रीरुक्मिणीके लिये भी यही बात है। अब रही श्रीराधिकाजीके विवाहकी बात, सो इस रूपमें इनका लौकिक विवाह कैसा? वृन्दावन-लीला ही लौकिक लीला नहीं है। लौकिक लीलाकी दृष्टिसे तो ग्यारह वर्षकी अवस्थामें ही श्रीकृष्ण व्रजका परित्याग कर मथुरा पधार गये थे। इतनी छोटी अवस्थामें स्त्रियोंके साथ प्रणयकी बात ही कल्पनामें नहीं आती। और अलौकिक जगत्‌में दोनों सर्वदा एक ही हैं। फिर भी भगवान्‌ने ब्रह्माजीको श्रीराधाजीके दिव्य चिन्मय प्रेमरससारविग्रहका दर्शन करानेका वरदान दिया था, उसकी पूर्तिके लिये एकान्त अरण्यमें ब्रह्माजीको श्रीराधिकाजीके दर्शन कराये और वहीं ब्रह्माजीके द्वारा रसराज और महाभावकी विवाहलीला भी सम्पन्न हुई। ये विवाहिता श्रीराधाजी नित्य ही भगवान् श्रीकृष्णके सङ्ग रहती हैं। अवश्य ही छिपी रहती हैं। श्री-कृष्णकृपा होनेपर ही किन्हीं प्रेमी महानुभावको इस 'जुगल जोड़ी' के दुर्लभ दर्शन होते हैं। श्रीमद्भागवतमें श्रीराधाका नाम प्रकटरूपमें नहीं आया है, यह सत्य है; परंतु वह उसमें इसी प्रकार छिपा हुआ है जैसे शरीरमें आत्मा। प्रेमरससार-चिन्तामणि श्रीराधाजीका अस्तित्व ही आनन्दरससार श्रीकृष्णकी दिव्य प्रेमलीलाको प्रकट

करता है । जहाँ श्रीकृष्ण हैं, वहाँ श्रीराधा नहीं हैं---यह कहना ही नहीं बनता । तार्किकोंको नहीं, भक्तों और शास्त्रके सामने सिर झुकानेवालोंको तो भगवान्‌के ये वाक्य सदा स्मरण रखने चाहिये—

आवयोर्भेदबुद्धिं च यः करोति नराधमः ॥
तस्य वासः कालसूत्रे यावच्चन्द्रदिवाकरौ ।
पूर्वान् सप्त परान् सप्त पुरुषान् पातयत्यधः ।
कोटिजन्मार्जितं पुण्यं तस्य नश्यति निश्चितम् ॥
अज्ञानादावयोर्निन्दां ये कुर्वन्ति नराधमाः ।
पच्यन्ते नरके घोरे यावच्चन्द्रदिवाकरौ ॥

(ब्रह्मवैवर्तपुराण कृ० १५ । ६७-७०)

'जो नराधम हम दोनोंमें (श्रीकृष्ण और श्रीराधामें) भेद-बुद्धि करता है, वह जबतक चन्द्र-सूर्य रहते हैं, तबतकके लिये कालसूत्र नामक नरकमें रहता है । उसके पहलेके सात और पीछेके सात पुरुष अधोगामी होते हैं और उसका कोटि जन्मार्जित पुण्य निश्चय ही नष्ट हो जाता है । जो नराधम अज्ञानवश हमलोगोंकी निन्दा करता है, वह पापात्मा भी चन्द्र-सूर्यकी स्थितिकालतक घोर नरक भोगता है ।'

अब रही गोपियोंके प्रेमके शुद्ध होनेकी बात । इसपर रास-पञ्चाध्यायीका यह श्लोकार्द्ध स्मरण करना चाहिये—

रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभिर्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः ।

'छोटे बालक जैसे अपने प्रतिबिम्बके साथ खेला करते हैं, वैसे ही रमेश भगवान्‌ने भी व्रजसुन्दरियोंके साथ क्रीड़ा की ।' लीला-रसमय आनन्दकन्द भगवान् स्वभावसे ही प्रेमवश हैं । अतएव उन्होंने प्रेमभावसे ही अपनी आनन्दस्वरूपा शक्तिद्वारा अपने ही प्रतिबिम्बरूप प्रेमस्वरूपा महाभागा गोपियोंके साथ क्रीड़ा की । उनका तो यह

आत्मरमण था और गोपियोंका इसमें श्रीकृष्णसुख ही एकमात्र उद्देश्य था। अतएव प्रेममयी गोपी और आनन्दमय श्रीकृष्णकी यह लीला सर्वथा कामगन्धशून्य थी। गोपियोंका प्रेम अत्युच्च पराकाष्ठाका भाव था। इसीसे उसे 'रूढ़ महाभाव' कहते हैं। इसमें निजेन्द्रिय-तृप्तिकी इच्छाके संस्कारकी भी कल्पना नहीं थी। यह इस जगत्की काम-क्रीड़ा नहीं थी। यह तो दिव्य आनन्दमय, पवित्र प्रेममय जगत्की अति दुर्लभ रहस्यमय लीला थी, जिसका रसास्वादन करनेके लिये बड़े-बड़े देवता और सिद्ध महात्मागण भी लालायित थे। और कहा जाता है कि इसीलिये उन्होंने व्रजमें आकर पशु-पक्षियों तथा वृक्ष-लता-पताके रूपमें जन्म लिया था। श्रीगोपियोंके इस कामशून्य प्रेम-भावको, श्रीकृष्णकान्ताशिरोमणि श्रीराधारानीके महाभावको और निजानन्दमें नित्यतृप्त परमात्मामें सुखेच्छा क्यों उत्पन्न होती है और कैसे उन्हें प्रेमरूपा शक्तियोंके साथ लीला करनेमें सुख मिलता है, इस बातको समझने-समझानेका अधिकार श्रीकृष्णगतप्राण, भजनपरायण, प्रेमी रसिक भक्तोंको ही श्रीकृष्णकृपासे प्राप्त होता है। मुझ-जैसा विषयी मनुष्य इसपर क्या कहे-सुने ? मेरी तो हाथ जोड़कर सबसे यह प्रार्थना है कि अपने मनकी मलिनताका आरोप भगवान्‌के पवित्र चरित्रोंपर कोई कदापि न करें और शङ्का छोड़कर जिसको भगवान्‌का जो नाम-रूप प्रिय लगता हो, जिसकी जिसमें रुचि हो, भगवान्‌के दूसरे नाम-रूपको उससे नीचा न समझकर बल्कि अपने ही इष्टदेवका एक भिन्न स्वरूप समझकर, अनन्यभावसे अपने उस इष्टकी सेवामें लगे रहें।

परा और अपरा विद्या

पराशर मुनिने ऋषि मैत्रेयसे कहा—मैत्रेयजी ! बुद्धिमान् पुरुष आध्यात्मिकादि तीनों तापोंको जानकर ज्ञान-वैराग्यद्वारा आत्यन्तिक लयको प्राप्त होते हैं। आध्यात्मिक ताप शारीरिक और मानसिक भेदसे दो प्रकारका है। इनमेंसे शारीरिक दुःखके अनेक प्रकार हैं—मस्तक-रोग, ज्वर, शूल, भगन्दर, गुल्म, अर्श, श्वास, शोथ, छर्दि, चक्षुरोग, अतीसार, कुष्ट और जलोदर आदि भेदसे बहुत प्रकारसे शारीरिक क्लेश होते हैं। मानस दुःखोंमें काम, क्रोध, भय, द्वेष, लोभ, मोह, विषाद, शोक, असूया, अपमान, ईर्षा और मात्सर्यादिसे उत्पन्न अनेक भेद हैं। द्विजश्रेष्ठ ! इन विविध दुःखोंको आध्यात्मिक ताप कहते हैं।

पशु, पक्षी, मनुष्य, पिशाच, सर्प, बिच्छू, राक्षस आदि भूत-प्राणियोंसे जिन दुःखोंकी उत्पत्ति होती है, उनका नाम आधिभौतिक ताप है। सर्दी, गरमी, वायु, अनावृष्टि, अतिवृष्टि, वज्रपात आदिसे जो दुःख उत्पन्न होते हैं, उनको आधिदैविक ताप कहते हैं।

मुनिराज ! इनके अतिरिक्त गर्भवास, जन्म, जरा (बुढ़ापा), अज्ञान, मृत्यु और नरकादिमें हजारों प्रकारके दुःख हैं। बहुत-से मलद्वारा ढके हुए गर्भमें सुकुमार शरीरको उदरके कीड़े काटते हैं, जेरसे लिपटा हुआ वह बालक माताके खाये हुए खट्टे, कड़वे, तीखे, गरम और नमकीन भोजनके द्वारा अत्यन्त कष्टसे जीता है। हाथ, पैरको पूरी तरह फैला नहीं सकता, मल-मूत्रमें पड़ा रहता है, श्वासहीन रहने-पर भी सचेतनभावसे पूर्वजन्मके कर्मोंका स्मरण करता हुआ पराधीनतामें समय बिताता है।

इसके बाद जन्म होनेके समय मल, मूत्र, शुक्र, रुधिरद्वारा लिपट-कर वह प्राजापत्य नामक वायुसे बड़ी ही पीड़ाको प्राप्त होता है, उसी समय अत्यन्त प्रबल सूति नामक वायु उसके मुखको नीचेकी ओर कर देती है, तदनन्तर वह जीव बड़े क्लेशसे माताके पेटसे योनिद्वारा बाहर निकलता है।

मुनिसत्तम ! जीव जन्म होते ही मूर्च्छित हो जाता है, फिर बाहरकी वायुके लगनेसे क्रमशः उसमें चेतना आती है और पूर्वसंस्कारों-को भूल जाता है, तब वह काँटोंसे बिंधे हुए और आरेसे विदीर्ण किये हुए कृमिकी तरह जमीनपर पड़ जाता है। उसमें अपने आप करवट बदलने और देह खुजलानेतककी शक्ति भी नहीं होती। दुग्धपानादि आहारके लिये भी वह पराधीन ही रहता है। मल-मूत्रमें पड़ा रहता है; कीड़े और मच्छर काटते हैं पर उसमें यह सामर्थ्य नहीं कि वह इन दुःखोंसे अपनेको छुड़ा सके। इस प्रकार जन्म और बालकपनमें जीव अनेक प्रकारसे आधिभौतिकादि दुःख भोगता है।

अज्ञानान्धकारसे आच्छादित विमूढ़ अन्तःकरणका वह मनुष्य, 'मैं कहाँसे आया हूँ, कौन हूँ, कहाँ जाऊँगा और मेरा क्या स्वरूप है आदि' कुछ भी नहीं जानता । 'मैं किस बन्धनसे संसार-कारागारमें कैद हूँ ? इसका कोई कारण है या बिना ही कारण मुझे यह दुःखोंकी राशि भोगनी पड़ती है ? मुझे क्या करना और क्या नहीं करना चाहिये ? क्या बोलना और क्या नहीं बोलना चाहिये ? क्या धर्म है और क्या अधर्म है ? किस तरह कौन-सा पथ अवलम्बन करना चाहिये और किस कार्यमें क्या दोष तथा क्या गुण है ?' ऐसी अनेक चिन्ताओंसे ग्रस्त वे शिश्नोदर-भोगपरायण पशुसदृश मूढ़ मनुष्य अज्ञानवश नाना प्रकारके भोग भोगते रहते हैं ।

अज्ञान तमोगुणका स्वभाव है, इससे जडता उत्पन्न होती है, जडता और प्रमादसे शास्त्रोक्त कर्म नहीं होते । कर्मोंका आरम्भ जडतारहित प्रवृत्तिसे होता है, परंतु मूर्ख मनुष्य जडताकी अधिकतासे क्रमशः कर्म लोप कर देते हैं । कर्मलोपसे नरकोंकी प्राप्ति होती है । अतएव मूर्ख मनुष्य इस लोक और परलोकमें केवल दुःख ही भोगते हैं ।

जवानी अज्ञानजनित जडता और प्रमादमें बीत जाती है, तदनन्तर देहके जरा-जर्जरित होनेपर अङ्ग शिथिल हो जाते हैं, दाँत गिर पड़ते हैं, मांस ढीला होकर स्नायु और नाड़ियोंसे ढक जाता है, आँखें बैठ जानेसे नजर कम पड़ जाती है, नाकोंसे रोम बाहर निकल आते हैं, शरीर सदा काँपने लगता है, देहकी हड्डियाँ बाहर चमकने लगती हैं, शरीर कुबड़ा जाता है, जठराग्नि मन्द पड़ जाती है, आहार कम हो जाता है और क्रमशः शरीरकी सभी चेष्टाएँ संकुचित हो जाती हैं । तबतक वह अन्धप्राय मनुष्य बहुत ही कष्टसे उठने,

बैठने, सोने और चलने-फिरनेमें समर्थ होता है। उसके मुँहसे हमेशा लार टपका करती है।

इन्द्रियोंपर अधिकार न रहनेसे वह मृत्युके समीप पहुँच जाता है, उस समय उसे अनुभूत पदार्थोंका भी स्मरण नहीं रहता। एक शब्दके उच्चारणमें ही वह थक जाता है, श्वास-खाँसीकी यन्त्रणासे नींदका सुख सदाके लिये नष्ट हो जाता है। दूसरेके उठाने-बैठानेसे वह उठ-बैठ सकता है। ऐसी हालतमें स्त्री-पुत्र-नौकर आदि सभी उसका अपमान करने लगते हैं। उसकी पवित्रता जाती रहती है, परंतु आहार-विहारकी तृष्णा बनी रहनेसे घर-परिवारके लोग उसकी हँसी उड़ाते और उसे अपने लिये क्लेशका कारण समझने लगते हैं। जवानीके भोगोंको पूर्वजन्मके भोगोंकी तरह याद करके वह लंबे-लंबे श्वास लेता है पर कोई उपाय नहीं चलता। यों कष्ट सहते-सहते मृत्युकाल आ जाता है।

तब गला घुटने लगता है और हाथ टूट-से जाते हैं, शरीर काँपने लगता है, बारंबार मूर्च्छा होने लगती है। ऐसी अवस्थामें वह 'मेरे धनका क्या होगा ? मेरे पीछे मेरे स्त्री-पुत्रोंकी क्या दशा होगी ? मेरे नौकरोंकी क्या हालत होगी ? मेरा धन-ऐश्वर्य लोग खा जायँगे।' इस प्रकारकी ममताजनित चिन्तासे व्याकुल हो जाता है। मर्मभेदी महारोगरूपी यमराजके दारुण बाणोंसे उसके देहकी हड्डियाँ टूट जाती हैं, आँखें उलट जाती हैं, तालु, कण्ठ और होठ सूख जाते हैं। उस समय वह भीषण यन्त्रणासे बारंबार हाथ-पैर पीटता है, कण्ठ रुक जाते हैं, श्वासकी गति ऊर्ध्व हो जाती है, गलेमें कफ अटक जानेसे 'घुर-घुर' शब्द होने लगता है; भूख-प्याससे वह अत्यन्त पीड़ित हो जाता

है। अन्तमें यम-किंकरोंके दीखनेसे भयभीत हो उठता है। मृत्युसमय प्राणियोंको इस प्रकारके अनेक कष्ट होते हैं।

मृत्युके बाद पापी मनुष्योंको यमदूत बाँधकर अनेक तरहसे पीड़ा देते हैं, नाना प्रकारके भयंकर मार्ग देखने पड़ते हैं, फिर यम-राजके दर्शन होते हैं। गरम बालू, अग्नि, यन्त्र और शस्त्रादिद्वारा नरकोंकी भयानक यातना भोग करनी पड़ती है। यमदूत करौतसे काटते हैं, जलते हुए कड़ाहेमें डाल देते हैं, कुठारसे आघात करते हैं, जमीनमें गाड़ देते हैं, शूलीपर चढ़ा देते हैं, बाघके मुखमें डाल देते हैं, गृध्रोंसे शरीर नुचवाते हैं, हाथियोंके पैरों तले रूँदवाते हैं, उबलते हुए तेलमें डाल देते हैं, क्षार और कादेसे लिपेट देते हैं, ऊपरसे नीचे डालते हैं और फेंकनेके यन्त्रद्वारा दूर फेंक देते हैं। इस प्रकार नारकी जीवोंको नरकोंमें नाना प्रकारसे इतनी यातना दी जाती है कि जिनकी कोई गिनती नहीं हो सकती!

द्विजराज! केवल नरकमें ही दुःख है सो बात नहीं है, स्वर्गवासी पुण्यात्मा पुरुष भी पतनके भयसे सदा दुखी रहते हैं। इस प्रकार कर्मफल भोगनेपर जीव फिर गर्भमें आकर जन्म ग्रहण करता है तथा पुनः उसी तरह मृत्युको प्राप्त हो जाता है। कोई जन्मते ही, कोई लड़कपनमें, कोई जवानीमें, कोई प्रौढ़ अवस्थामें और कोई वृद्ध होकर मृत्युके मुखमें चला जाता है। जैसे कपासका बीज कपाससे व्याप्त रहता है, इसी प्रकार यह जीव भी जीवनभर नाना प्रकारके दुःखोंसे व्याप्त रहता है। अर्थके उपार्जन, पालन और नाशमें तथा प्रियजनोंकी विपत्तिमें मनुष्यको नाना प्रकारसे कष्ट सहन करने पड़ते हैं।

मैत्रेय ! जो सब पदार्थ मनुष्यको पहले प्रीतिकर मालूम होते हैं, वे ही परिणाममें दुःखके कारण हो जाते हैं । स्त्री, स्वामी, भृत्य, घर, धन, परिवार और जमीन आदिद्वारा मनुष्यको जितना क्लेश होता है, सुख उसकी अपेक्षा बहुत ही थोड़ा हुआ करता है । इन सब दुःखरूप सूर्यके तापसे तापितचित्त मनुष्योंको मुक्तिरूपी वृक्षकी शीतल छायाको छोड़कर अन्यत्र कहीं भी सुख नहीं मिल सकता ! गर्भ, जन्म, जरा आदिसे उत्पन्न इन त्रिविध दुःखोंकी एकमात्र परम औषध भगवत्-प्राप्ति ही है—'*भैषज्यं भगवत्प्राप्तिः ।*' अतएव बुद्धिमान् पुरुषोंको उस भगवत्-प्राप्तिके लिये ही प्रयत्न करना चाहिये ।—'*तस्मात्तत्प्राप्तये यत्नः कर्तव्यः पण्डितैर्नरैः ।*'

महामुने ! भगवत्-प्राप्तिमें कर्म और ज्ञान दोनों ही हेतु हैं । ज्ञान दो प्रकारका है—एक आगमशास्त्रसे उत्पन्न और दूसरा विवेकसे उत्पन्न । इनमें आगमसे उत्पन्न ज्ञानसे शब्दब्रह्म और विवेकसे उत्पन्न ज्ञानद्वारा परमब्रह्म जाननेमें आता है । जैसे दीपकसे अन्धकारका नाश होता है, वैसे ही शास्त्रजन्य ज्ञानसे शब्दमय ब्रह्मके जाननेपर कुछ अंशोंमें तो अज्ञानका नाश होता है, परंतु जैसे सूर्यके उदय होनेपर अन्धकारका पूर्ण नाश हो जाता है, इसी प्रकार विवेकजन्य ज्ञानसे परमब्रह्मको जान लेनेपर सम्पूर्ण अज्ञान नष्ट हो जाता है।

मनु महाराजने कहा है—'ब्रह्म दो प्रकारका है; प्रथम शब्दमय और दूसरा परम । शब्द-ब्रह्मका ज्ञान हो जानेके बाद परब्रह्मका होता है । विद्या भी कर्म और ज्ञानरूपसे दो प्रकारकी है; आथर्वणी श्रुतिमें ऐसा ही कहा गया है । पराविद्याद्वारा अक्षरब्रह्मकी प्राप्ति होती है ।

ऋग्वेदादिमयी विद्या ही पराविद्या है । अव्यक्त, अजर, अचिन्त्य, नित्य, अव्यय, अनिर्देश्य, अरूप, हस्तपदादिरहित, विभु, सर्वगत, भूतसमूहों-का बीजरूप होनेपर भी अकारण तथा व्याप्य और व्यापक सभी रूपोंमें मुनिगण ज्ञानचक्षुसे जिसका दर्शन करते हैं, वही परब्रह्म है । मोक्षकी इच्छावाले पुरुष उसीका ध्यान करते हैं । उसीको वेदोंने अत्यन्त सूक्ष्म और विष्णुका परमपद बतलाया है ।

परमात्माकी इसी मूर्तिको भगवान् कहते हैं । भगवान् शब्द इस आदि और अक्षर परमात्माका ही वाचक है । इसी प्रकारसे मुनियोंको जो तत्त्वज्ञान होता है वही परम और वेदमय है । द्विज ! वह परब्रह्म शब्दसे अगोचर होनेपर भी उसकी पूजाके लिये 'भगवत्' शब्दद्वारा उसका कीर्तन किया जाता है । विशुद्ध और समस्त कारणोंके कारण महाविभूतिशाली उस परब्रह्ममें ही 'भगवत्' शब्दका प्रयोग होता है । 'भगवत्' शब्दमें 'भ' के दो अर्थ हैं, सबका भरण करनेवाला और सबका आधार, 'ग' का अर्थ गमयिता और स्रष्टा । दोनों अक्षर मिलनेसे 'भग' बनता है । सम्पूर्ण ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्यको भग कहते हैं । 'व' अक्षरका अर्थ यह है कि 'अखिल जगत्के आत्मभूत इस परमात्मामें ही सब भूतप्राणी निवास करते हैं । साधुश्रेष्ठ ! इस प्रकारके अर्थवाला यह महान् 'भगवत्' शब्द परब्रह्मस्वरूप वासुदेवके सिवा अन्य किसीके लिये प्रयुक्त नहीं हो सकता । उस परब्रह्मसे ही इस 'भगवत्' शब्दकी सार्थकता है ।' वह समस्त भूतोंकी उत्पत्ति, प्रलय, अगति, गति और विद्या, अविद्याको जानता है, इसीसे उसे 'भगवान्' कहते हैं । ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज आदि

सद्गुण 'भगवत्' शब्दद्वारा ही वाच्य हैं। वह परमात्मा सब भूतोंमें निवास करता है और सबके आत्मस्वरूप उस वासुदेवमें ही सब भूत निवास करते हैं। प्राचीनकालमें खाण्डिक्यके द्वारा पूछे जानेपर केशिध्वजने 'वासुदेव' नामका यथार्थ अर्थ यही बतलाया था कि "समस्त भूतप्राणी उसमें निवास करते हैं और वही समस्त भूतोंमें जगत्के धाता-विधातारूपसे विराजमान है, इसीलिये उस प्रभुका नाम 'वासुदेव' है।"

महामुने! वह परमात्मा स्वयं सम्पूर्ण आवरणोंसे मुक्त रहकर अखिल विश्वके आत्मरूपसे सब भूतोंकी प्रकृति, विकार, गुण और दोष आदि त्रिभुवनमें जो कुछ भी है, सबमें व्याप्त हो रहा है। समस्त कल्याण-गुण-स्वरूप वह परमात्मा अपनी शक्तिके कणमात्रसे सम्पूर्ण भूतप्राणियोंको आवृतकर, अपनी इच्छासे अनेक प्रकारके रूप धारण करके जगत्का अनन्त कल्याण कर रहा है। जो तेज, बल, ऐश्वर्य तथा महाबोधस्वरूप है, अपने वीर्य और शक्तिका एकमात्र आधार है, परात्पर है, जिसमें क्लेशका लेश भी नहीं है, वही ईश्वर व्यष्टि और समष्टिरूप है, वही व्यक्त और अव्यक्तरूप है, वही सबका स्वामी और सर्वत्रगामी है, वही सर्ववेत्ता और सबका शक्तिस्वरूप है और उसीका नाम परमेश्वर है।

जिस ज्ञानके द्वारा इस प्रकारके निर्दोष, विशुद्ध, निर्मल और एकरूप परमेश्वरको जाना और देखा जा सकता है, वही ज्ञान है और उसीका नाम परा विद्या है। जो इससे विपरीत है सो अज्ञान है और उसीको अपरा विद्या कहते हैं। (विष्णुपुराणके आधारपर)

एक समय केशिध्वज वनमें यज्ञ कर रहे थे, उन्हें समाधिमें स्थित जानकर एक व्याघ्रने उनकी धर्म-धेनुको मार डाला। राजाको इस दुर्घटनाका पता लगनेपर उन्होंने पश्चात्ताप करते हुए यज्ञकी पूर्तिके लिये अपने पुरोहितोंसे गोहत्याके प्रायश्चित्तका विधान पूछा। पुरोहितोंने कहा कि 'इस विषयमें हम कुछ भी नहीं कह सकते, आप कशेरु मुनिसे पूछिये।' कशेरुसे पूछनेपर उन्होंने भार्गव शुनक मुनिका नाम बतलाया। राजाने शुनकके पास जाकर पूछा, तब शुनक बोले कि 'राजन्! तुम्हारेद्वारा पराजित तुम्हारे शत्रु खाण्डिक्यके सिवा इस समय पृथ्वीमें कशेरु, मैं या अन्य कोई भी ऐसा कर्मके तत्त्वको जाननेवाला नहीं है जो तुम्हें प्रायश्चित्तका यथार्थ विधान बतला सके। तुम चाहो तो उनके पास जाकर पूछ सकते हो।' यज्ञका विघ्न दूर करनेकी इच्छासे केशिध्वजने कहा कि 'मुने! मैं इस कार्यके लिये अभी खाण्डिक्यके पास जाता हूँ। यदि वे मुझे अपना शत्रु समझकर मार डालेंगे तब तो मुझे आत्मबलिदानके फलस्वरूप यज्ञका फल यों ही मिल जायगा। यदि वे मुझे शास्त्रोक्त प्रायश्चित्त बतला देंगे तो मैं तदनुसार करके यज्ञकी पूर्ति कर दूँगा।'

यों कहकर महामति राजा केशिध्वज कृष्णाजिन पहनकर रथपर सवार हो तुरंत उस वनकी ओर चले, जहाँ खाण्डिक्य अपने परिवार-सहित निवास करते थे। खाण्डिक्य अपने शत्रुको दूरसे अपनी ओर आते देखकर, उसकी दुर्भावना समझकर बड़े क्रोधित हुए। वह क्रोधसे लाल-लाल आँखें करके पुकारकर कहने लगे—'केशिध्वज!

क्या तुम इसीलिये कृष्णाजिन (काले मृगका चर्म) धारण करके आये हो कि इसको देखकर मैं तुम्हें नहीं मारूँगा ? तुमने और मैंने न मालूम कितने कृष्ण-चर्मधारी मृगोंको तीक्ष्ण बाणोंसे मारा होगा। अतएव इस वेषके कारण मैं तुम्हें नहीं छोड़ सकता।' केशिध्वजने कहा— 'मैं आपको मारनेके लिये नहीं आया हूँ, संदेहकी निवृत्तिके लिये आपसे कुछ पूछने आया हूँ, आप किसी प्रकारका संदेह न करें और क्रोध तथा बाणको त्यागकर मेरे प्रश्नका उत्तर देनेकी कृपा करें।'

केशिध्वजके ये वचन सुनकर बुद्धिमान् खाण्डिक्य अपने पुरोहित और मन्त्रियोंको एकान्तमें ले जाकर उनसे परामर्श करने लगे। मन्त्रियोंने कहा, 'महाराज ! ऐसा अवसर फिर कब मिलेगा ? शत्रु आपके हाथोंमें आ गया है, अब तो इसका काम तमाम ही कर डालना चाहिये। इस वैरीके मरते ही सारी पृथ्वी आपके अधीन हो जायगी।' खाण्डिक्यने उनके वचन सुनकर गम्भीरतासे कहा, 'निःसंदेह इसके मरनेसे पृथ्वीपर मेरा एकाधिपत्य हो जायगा, परंतु ऐसा करनेसे मेरा परलोक बिगड़ जायगा। मेरी समझसे पृथ्वीके राज्यकी अपेक्षा परलोकमें विजयी होना—जीव-जीवनका उच्चतर अवस्थामें पहुँच जाना कहीं अधिक महत्त्वका विषय है; क्योंकि—

परलोकजयोऽनन्तः स्वल्पकालो महीजयः।

परलोकका जय अनन्तकालके लिये होता है, पर पृथ्वीकी विजय तो अल्पकालस्थायी होती है, अतएव····एनं न हिंसिष्ये यत्पृच्छति वदामि तत्।' मैं इसे मारूँगा नहीं, यह जो कुछ पूछेगा सो बतलाकर इसे विदा करूँगा।' धन्य धर्मपरायणता और साधुता !

खाण्डिक्य-जनक अपने शत्रु केशिध्वजके पास जाकर शान्ति और प्रेमसे कहने लगे 'आपको जो कुछ पूछना हो मुझसे पूछिये, मैं आपको यथार्थ उत्तर दूँगा।' केशिध्वजने धर्म-धेनुके वधकी घटना सुनाकर उसके प्रायश्चित्तका विधान पूछा, खाण्डिक्यने बड़ी सरलतासे विस्तारपूर्वक विधान बतला दिया। केशिध्वजने वहाँसे अपनी यज्ञभूमि-में लौटकर यथाविधि प्रायश्चित्त और क्रमशः यज्ञकी समस्त क्रियाएँ कीं। यज्ञ समाप्त होनेपर राजाने सब ऋत्विक् और सदस्योंका पूजन-सम्मान किया, अतिथियोंको अनेक प्रकारसे विविध दान देकर प्रसन्न किया। तब भी राजाके मनमें शान्ति नहीं हुई। इसका कारण सोचते-सोचते केशिध्वजके मनमें यह भावना हुई कि 'मैंने प्रायश्चित्तका विधान बतलानेवाले खाण्डिक्यको अभी गुरुदक्षिणा नहीं दी, इसीसे मेरा मन अशान्त है।' इस विचारके पैदा होते ही केशिध्वज फिर खाण्डिक्यके निवासस्थानकी ओर चले। इस बार भी खाण्डिक्यने नीतिके अनुसार उसपर संदेह करके शस्त्र उठाये, परंतु केशिध्वजने वहाँ जाते ही नम्र वचनोंमें खाण्डिक्यसे कहा,—'खाण्डिक्य! मैं आपकी कोई बुराई करने नहीं आया हूँ, आप क्रोध न करें। आपके उपदेशसे मेरा यज्ञ भलीभाँति पूर्ण हो चुका है, मैं अभी गुरु-दक्षिणा नहीं दे सका, उसीको देने आया हूँ, आपकी जो इच्छा हो सो माँग सकते हैं।'

केशिध्वजकी यह बात सुनकर खाण्डिक्यने अपने मन्त्रियोंसे सम्मति पूछी, उन्होंने कहा, 'राजन्! आप इससे सारा राज्य माँग लीजिये। बिना ही युद्धके जहाँ राज्यकी प्राप्ति होती हो वहाँ बुद्धिमान् पुरुष राज्य ही लिया करते हैं।' मन्त्रियोंकी इस उक्तिपर महामति खाण्डिक्य हँस पड़े और कहने लगे, 'मित्रो! आप अन्य सभी कार्योंमें

मुझे उचित परामर्श दिया करते हैं, परंतु परमार्थ वस्तु क्या है और उसकी प्राप्ति कैसे होती है, इस बातको आपलोग विशेषरूपसे नहीं जानते। क्या मुझ-जैसे व्यक्तिके लिये ऐसे अवसरपर थोड़े दिनोंतक रहनेवाले राज्यकी कामना करना उचित है? 'स्वल्पकालं महीराज्यं मादृशैः प्रार्थ्यते कथम्।' आपलोग देखिये, मैं उससे क्या माँगता हूँ।' इतना कहकर खाण्डिक्यने केशिध्वजके पास जाकर कहा, 'भाई! क्या सचमुच तुम मुझे गुरु-दक्षिणा दोगे?' केशिध्वजने दृढ़तासे कहा, 'हाँ, अवश्य दूँगा।' तब खाण्डिक्य कहने लगे— केशिध्वज!

भवानध्यात्मविज्ञानपरमार्थविचक्षणः ॥
यदि चेद्दीयते मह्यं भवता गुरुनिष्क्रयः।
तत्क्लेशप्रशमायालं यत् कर्म तदुदीरय ॥

'अध्यात्म-विज्ञानरूप परमार्थ ज्ञानमें आप प्रवीण हैं, यदि आप गुरुदक्षिणा देना चाहते हैं तो मुझे वह उपाय बतलाइये, जिससे मेरे समस्त क्लेश सम्पूर्ण रूपसे नष्ट हो जायँ।'

केशिध्वजने कहा, 'आप मुझसे निष्कण्टक राज्य क्यों नहीं चाहते? क्षत्रियोंको तो राज्यके समान और कोई पदार्थ इतना प्रिय नहीं होता।' खाण्डिक्य कहने लगे,—'केशिध्वज! मूर्ख मनुष्य जिसके लिये सदा लालायित रहते हैं, ऐसे विशाल राज्यको मैंने क्यों नहीं माँगा, इसका कारण आपको बतलाता हूँ।

'प्रजाका पालन करना और धर्मयुद्धमें राज्यके शत्रुओंका संहार करना ही क्षत्रियोंका धर्म है। मेरा राज्य आपने छीन लिया है, इससे प्रजापालन न करनेका दोष इस समय तो मुझपर कुछ भी नहीं

हैं, परंतु यदि राज्य ग्रहण करके न्यायपूर्वक उसका पालन न किया जायगा तो मुझे अवश्य पापका भागी होना पड़ेगा। इसके सिवा भोग-पदार्थोंकी इच्छा न करनेमें एक हेतु यह भी है कि क्षत्रिय कभी माँगकर राज्य नहीं लिया करते, यह सज्जनोंका सिद्धान्त है। फिर राज्यकी प्राप्तिमें वास्तवमें सुख ही कौन-सा है? जो मूर्ख अहंकाररूपी मदिरा पीकर पागल हो रहे हैं या जिनका मन ममताके मायाजालमें फँस रहा है, वे ही राज्यका लोभ किया करते हैं, मैं ऐसे राज्यसे कोई लाभ नहीं समझता, इसीलिये मैंने इस अविद्याके अन्तर्गत राज्यकी कामना नहीं की।'

खाण्डिक्यके इन वचनोंसे प्रसन्न होकर केशिध्वजने उन्हें साधुवाद देते हुए कहा—'खाण्डिक्य-जनक! मैं प्रजापालन आदि अविद्याकी क्रियाओंद्वारा काम-क्रोधादिसे छूटनेके लिये राज्यका पालन तथा अनेक यज्ञोंका अनुष्ठान करता हूँ और भोगद्वारा पुण्योंका क्षय कर रहा हूँ। ईश्वरेच्छासे आपके मनमें विवेक जाग्रत् हो गया है, यह बड़े ही आनन्दका विषय है। मैं आपको अविद्याका स्वरूप बतलाता हूँ। कुलनन्दन! अनात्ममें आत्मबुद्धि और जो वस्तु अपनी नहीं है, उसको अपनी समझना, ये दो अविद्या-वृक्षके बीज हैं। दुष्टबुद्धि जीव मोहरूपी अन्धकारसे आच्छन्न होकर पाँच भूतोंसे बने हुए इस स्थूल शरीरको ही आत्मा समझते हैं। आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वीसे जब आत्मा सर्वथा अलग है, तब ऐसा कौन बुद्धिमान् और प्राज्ञ मनुष्य होगा जो इस पञ्चभूतात्मक शरीरको आत्मा और शरीरद्वारा भोग किये जानेवाले घर, जमीन, वन, ऐश्वर्य आदि भोगोंको

अपना समझे ? जब शरीर ही अपना नहीं है, तब उसके द्वारा उत्पन्न हुए पुत्र-पौत्रादिको अपना समझकर बुद्धिमान् मनुष्यको कभी मोहमें नहीं पड़ना चाहिये।

'मनुष्य इस देहके भोगके लिये ही सारे कर्म करता है, यह देह जब आत्मासे भिन्न है तब जीवका इस देहमें आत्मबुद्धि करना केवल संसारमें बन्धनके लिये ही होता है। जैसे मिट्टीके घरकी रक्षाके लिये मिट्टी और जलसे उसपर लेप किया जाता है, वैसे ही यह पार्थिव शरीर भी अन्न-जलके द्वारा रक्षित होता है। इस तरह जब पञ्चभूतात्मक भोगोंद्वारा इस पञ्चभूतमय शरीरकी ही रक्षा और तृप्ति होती है तब जीवका इसमें गर्व करना व्यर्थ है।

'वासनाकी धूलिसे लिपटा हुआ यह जीव हजारों जन्मोंतक इस संसारमें भटकता हुआ केवल परिश्रमको ही प्राप्त होता है। संसारमें भटकनेवाले इस भ्रान्त पथिककी यह वासनारूपी धूलि जब ज्ञानरूप गरम जलसे धुल जाती है तभी उसकी मोहरूपी थकावट दूर होती है। मोह-श्रम मिटनेपर जीवका अन्तःकरण स्वस्थ होता है और तभी इसे अनन्य अतिशय आनन्दकी प्राप्ति होती है। वास्तवमें यह निर्वाण-मय सुखस्वरूप निर्मल आत्मा सदा मुक्त ही है, दुःख-अज्ञान आदि मल तो प्रकृतिके धर्म हैं, आत्माके नहीं। परंतु जैसे थालीके जलसे अग्निका कोई साक्षात् सम्बन्ध न होनेपर भी थालीके सम्बन्धके कारण जलमें उष्णता आदि गुण उत्पन्न हो जाते हैं, वैसे ही प्रकृतिके सङ्गसे यह अव्यय आत्मा भी अभिमानादि द्वारा दूषित होकर प्रकृतिके धर्मों-का भोग करता हुआ प्रतीत होता है। यही अविद्याके बीजका स्वरूप है, इस अविद्यासे उत्पन्न क्लेशोंके नाशके लिये योगके सिवा और कोई भी उपाय नहीं है।'

इतना सुनकर खाण्डिक्यने केशिध्वजसे कहा—'महाभाग ! आप उस योगके तत्त्वको भलीभाँति जानते हैं, कृपा कर मुझे वह योगतत्त्व बतलाइये !' इसपर केशिध्वज कहने लगे 'खाण्डिक्य ! जिस योगमें स्थित हो मुनिगण ब्रह्ममें लीन होकर संसारमें फिर कभी नहीं आते । मैं उस योगका स्वरूप बतलाता हूँ, मन लगाकर सुनिये—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
बन्धस्य विषयासङ्गि मुक्तेर्निर्विषयं तथा ॥

मन ही मनुष्योंके बन्ध और मोक्षका कारण है । जब यह मन विषयोंमें आसक्त होता है, तब बन्धनका और जब विषयोंका त्याग कर देता है, तब यही मुक्तिका कारण बन जाता है । ज्ञानके साधक मुनिगण इस मनको विषयोंसे हटाकर मुक्तिके लिये उस परब्रह्म परमेश्वरमें लगाते हैं । श्रेष्ठ ! जैसे चुम्बक पत्थरसे स्वाभाविक ही लोहेका आकर्षण होता है, उसी प्रकार मनके द्वारा निरन्तर चिन्तन किये जानेपर ब्रह्म भी योगीको अपनी ओर स्वाभाविक ही खींच लेता है । मनकी यह गति आपके ही यत्नपर निर्भर करती है । मनकी गतिका ब्रह्मके साथ संयोग कर देना ही 'योग' कहलाता है । इस प्रकारके योगकी साधना करनेवाले व्यक्तिको ही योगी और मुमुक्षु कहते हैं । योगयुक्त पुरुष पहले 'युञ्जान' कहलाता है । तदनन्तर वह क्रमशः समाधिसम्पन्न होकर ब्रह्मज्ञानको प्राप्त होता है । युञ्जान योगी यदि किसी कारणवश इस जन्ममें सिद्धिको प्राप्त नहीं होता तो उसका मन दोषरूप विघ्नसे रहित होनेके कारण वह जन्मान्तरमें पूर्वके अभ्यास-बलसे मुक्त हो जाता है । परंतु समाधिसम्पन्न योगी तो इसी जन्ममें मुक्तिको प्राप्त

होता है, कारण उसके समस्त अदृष्ट योगकी अग्निके द्वारा बहुत ही शीघ्र भस्म हो जाते हैं।

'योगीको चाहिये कि वह अपने मनको तत्त्वज्ञानके उपयोगी बनानेके लिये निष्कामभावसे ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह आदि नियमोंका अवलम्बन कर संयतचित्तसे स्वाध्याय, शौच, संतोष तथा तप करते हुए मनको निरन्तर परब्रह्म परमेश्वरके चिन्तनमें लगाये रक्खे। यही दस प्रकारके यम-नियम हैं। इनका सकामभावसे पालन करनेवालेको उत्तम फलकी प्राप्ति होती है और निष्काम आचरण करनेवालेको मुक्ति मिलती है। भद्र आदि आसनोंमेंसे किसी एक आसनका अवलम्बन करके सद्‌गुणी पुरुषको यम-नियमसे सम्पन्न होकर वशमें किये हुए चित्तसे योगका अभ्यास करना चाहिये।

'अभ्याससे प्राण नामक वायुको वशमें करनेवाली क्रियाका नाम प्राणायाम है। प्राणायाम सबीज और निर्बीज भेदसे दो प्रकारका है। जब प्राण और अपान वायु सद्विधानसे परस्परको जीत लेते हैं, तब इन दोनोंके संयमित हो जानेपर कुम्भक नामक तीसरा प्राणायाम होता है। योगी जब पहले-पहल प्राणायामका अभ्यास करते हैं, तब भगवान्‌का स्थूल रूप ही उनके चित्तका अवलम्बन रहता है। योगीको चाहिये कि वह क्रमशः प्रत्याहारपरायण होकर शब्द, स्पर्शादि विषयोंमें आसक्त इन्द्रियोंका निग्रह करके उन्हें चित्तका अनुसरण करनेवाली बना ले, इन अत्यन्त चञ्चल स्वभाववाली इन्द्रियोंको वश करनेकी बड़ी आवश्यकता है। जबतक इन्द्रियाँ वशमें नहीं होतीं, तबतक योगी योगकी साधनामें समर्थ नहीं हो सकता। इस प्रकार प्राणायामद्वारा प्राण-

वायुको और प्रत्याहारद्वारा इन्द्रियोंको वशमें करके योगीको कल्याणका आश्रय लेकर अपना चित्त भलीभाँति स्थिर करना चाहिये।'

खाण्डिक्यने कहा—'महाभाग! जिस कल्याणके आश्रयसे चित्तके सारे दोष नष्ट हो जाते हैं वह क्या वस्तु है सो कृपा करके मुझे समझाइये।' केशिध्वज कहने लगे—'राजन्! ब्रह्म ही चित्तका शुभ आश्रय है। वह स्वभावतः ही दो प्रकारका है,—मूर्त्त और अमूर्त्त, जिसको पर और अपर भी कहते हैं। इस जगत्में तीन प्रकारकी भावनाएँ होती हैं—एक ब्रह्मभावना, दूसरी कर्मभावना और तीसरी ब्रह्म-कर्मभावना। सनन्दन आदि ऋषिगण ब्रह्मभावनावाले हैं, देवताओंसे लेकर जड-चेतन समस्त प्राणी कर्मभावनावाले हैं और हिरण्यगर्भ आदिमें ब्रह्म-कर्म दोनों भावनाएँ हैं। जिसका जैसा ज्ञान और अधिकार है उसकी वैसी ही भावना हुआ करती है।

'भेद-ज्ञानके हेतु कर्म जबतक बने रहते हैं तभीतक जीवोंको विश्व और परमात्मामें भेद दीखता है। जिस ज्ञानसे सारे भेद मिट जाते हैं, जो ज्ञान सत्तामात्र है, जो मन, वाणीसे अगोचर है और जिसको केवल आत्मा ही जानता है उसीका नाम ब्रह्मज्ञान है। वही अज, अक्षर तथा अरूप विष्णुका नित्य और परमरूप है और वह समस्त विश्वरूपसे विलक्षण है। आरम्भमें योगी उस परमरूपका चिन्तन नहीं कर सकते, इसीलिये उन्हें परमात्माके विश्वगोचर स्थूल रूपका चिन्तन करना चाहिये। हिरण्यगर्भ, इन्द्र, प्रजापति, वायु, वसु, रुद्र, आदित्य, नक्षत्र, ग्रह, गन्धर्व, यक्ष और दैत्य आदि समस्त देवयोनियाँ,—मनुष्य, पशु, पर्वत, समुद्र, नदी और वृक्ष आदि अगणित प्राणी, उनके कारण और प्रधान आदितक एकपाद, द्विपाद,

बहुपाद अथवा अपाद चेतन और अचेतन सभी त्रिविध भावनात्मक परमात्मा हरिका मूर्त्त रूप है। यह समस्त चराचर विश्व उस पर-ब्रह्मस्वरूप भगवान् विष्णुकी शक्तिसे समन्वित है।

'भगवान्‌की यह शक्ति तीन प्रकारकी है—(१) विष्णुशक्ति, (२) अपरा क्षेत्रज्ञशक्ति और (३) कर्म नामक अविद्याशक्ति, जिससे आवृत होकर सर्वव्यापी क्षेत्रज्ञशक्ति भी संसारके समस्त तापोंका भोग करती है। इस अविद्याशक्तिके द्वारा ढकी रहनेके कारण ही क्षेत्रज्ञ-शक्ति सब भूतोंमें समान होनेपर भी न्यूनाधिकरूपसे दिखायी देती है। प्राणहीन पदार्थोंमें वह बहुत ही कम प्रमाणमें दीख पड़ती है, स्थावरोंमें उससे कुछ अधिक दीखती है, साँपोंमें उससे अधिक, पक्षियोंमें उससे अधिक, मृगोंमें उससे अधिक, मनुष्योंमें रहनेवाले पशुओंमें उससे अधिक, पशुओंसे मनुष्योंमें अधिक, मनुष्योंसे नागोंमें अधिक, उनसे गन्धर्वोंमें अधिक, गन्धर्वोंसे यक्षोंमें, यक्षोंसे देवताओंमें, देवताओंसे इन्द्रमें, इन्द्रसे प्रजापतिमें और प्रजापतिसे भी अधिक क्षेत्रज्ञशक्तिका विकास हिरण्यगर्भमें पाया जाता है। ये सभी उस अशेषरूप भगवान्‌के ही रूप हैं; क्योंकि ये सभी आकाशकी भाँति उन्हींकी शक्तिद्वारा व्याप्त हैं।

'अब उस ब्रह्मके दूसरे रूपका ध्यान बतलाता हूँ, बुद्धिमान् लोग इस रूपको सत् और अमूर्त्त कहा करते हैं। जिस रूपमें पूर्वोक्त समस्त शक्तियाँ प्रतिष्ठित हैं यही विश्वरूपका स्वरूप है। भगवान्‌के और भी अनेक रूप हैं। देवता, तिर्यक् और मनुष्य आदिकी चेष्टासे जो सब रूप प्रकट होते हैं, जिन्हें भगवान् जगत्‌के

उपकारके लिये लीलासे धारण करते हैं ऐसे रूपोंकी समस्त चेष्टाएँ स्वतन्त्र होती हैं, किसी कर्मके अधीन होकर नहीं होतीं। योगी साधकको अपनी चित्तशुद्धिके लिये सारे पापोंके नाश करनेवाले विश्वरूपके उसी रूपका चिन्तन करना चाहिये। जैसे वायुके जोरसे बढ़ी हुई, धधकती हुई अग्नि सूखे घासको क्षणभरमें भस्म कर डालती है, वैसे ही चित्तमें स्थित भगवान् विष्णु भी योगियोंके सारे पापोंको भस्म कर देते हैं। इसलिये समस्त शक्तियोंके आधार उन परमेश्वरमें ही चित्त स्थिर करना चाहिये, इसीका नाम विशुद्ध धारणा है।

'सर्वव्यापी आत्माका भी आश्रय और तीनों भावनाओंसे अतीत वह परमात्मा ही मुक्तिके लिये योगियोंके चित्तका एकमात्र शुभ अवलम्बन है। इसके अतिरिक्त दूसरे कर्मयोनि देवताओंका आश्रय शुद्ध नहीं है। भगवान्‌का मूर्तरूप चित्तको दूसरे विषयोंसे निःस्पृह कर देता है। कारण चित्त उसीकी ओर दौड़ता है, इसीलिये इसको धारणा कहते हैं।

'अनाधार विष्णुके अमूर्त्त रूपको चित्त सहसा धारण नहीं करता, इसीसे उसके मूर्त्त रूपका चिन्तन करना चाहिये, वह मूर्त्तरूप इस प्रकारका मनोहर है—जिसका सुन्दर प्रसन्नमुख है, कमलकी पँखड़ियोंके समान नेत्र हैं, सुन्दर कपोल हैं, विशाल और उज्ज्वल मस्तक है, लंबे कानोंमें मनोहर कर्णभूषण शोभित हो रहे हैं, सुन्दर कण्ठ है, चौड़ा वक्षःस्थल श्रीवत्सके चिह्नसे अङ्कित है, गम्भीर नाभि और उदरपर त्रिवली शोभित हैं, आजानुलम्बित आठ या चार भुजाएँ हैं, ऊरु और जंघाएँ समभावसे स्थित हैं, हाथ और पैर सुस्थिर हैं, निर्मल

पीत वस्त्र और शार्ङ्ग धनुष, गदा, खड्ग, शङ्ख, चक्र, अक्ष तथा वलय धारण किये हुए हैं। भगवान्‌की ऐसी पवित्र विष्णुमूर्तिमें जबतक मन रम न जाय तबतक मनका संयम करके चिन्तन करते ही रहना चाहिये। जब कहीं भी जाने-आने, बैठने-उठने या स्वेच्छापूर्वक किसी भी कार्यके करते समय भी चित्तसे भगवान्‌का यह रूप न हटे, तब धारणाकी सिद्धि समझनी चाहिये।

'इसके बाद साधकको शङ्ख, गदा, चक्र और शार्ङ्ग आदिसे रहित अक्ष-सूत्र धारण की हुई भगवान्‌की प्रशान्त मूर्तिका ध्यान करना चाहिये। उस मूर्तिमें धारणा स्थिर होनेपर किरीट, केयूररहित मूर्ति-का ध्यान करना चाहिये। तदनन्तर उसी भगवान्‌की मूर्तिके एक-एक अवयवका चिन्तन करना चाहिये। इसके बाद योगीको उस अवयवी भगवान्‌में प्रणिधान करना चाहिये।

'दूसरे विषयोंमें सर्वथा निःस्पृह होकर जब साधक केवल भगवान्‌के रूपमें ही अनन्य भावसे तन्मय हो जाता है, तब उसीको ध्यान कहते हैं। यह ध्यान, यमादि छः प्रकारके अङ्गोंद्वारा सम्पादित होता है। इसके बाद समाधि होती है। समस्त कल्पनाओंसे सर्वथा रहित होकर केवल स्वरूपमें ही स्थित रहनेको समाधि कहते हैं, यह समाधि ध्यानके द्वारा प्राप्त होती है।

'समाधिके अनन्तर भगवत्-साक्षात्काररूप विज्ञानसे ही परब्रह्मरूप प्राप्य विषयकी प्राप्ति होती है, अब पूर्वोक्त त्रिविध भावनासे अतीत परमात्मा ही प्राप्त होता है। मुक्तिमें क्षेत्रज्ञ कारण और ज्ञान करण है; इन दोनोंके द्वारा ही मुक्ति प्राप्त होती है। मुक्त होते ही जीव

कृतकृत्य होकर जन्म-मृत्युसे छूट जाता—परमात्माकी भावनामें निर्भोर जीव परमात्माके स्वरूपको प्राप्त हो जाता है। जीवको अज्ञानसे ही भेद-ज्ञान हुआ करता है। समस्त पदार्थोंके भेदजनक ज्ञानका सम्पूर्ण रूपसे विनाश हो जानेपर आत्मा और ब्रह्मके भेदकी चिन्ता कौन करे? खाण्डिक्य! यही योग है, इसीको जानकर मनुष्य परमात्माकी प्राप्तिके लिये प्रयास कर सकता है। मैंने संक्षेप और कुछ विस्तारसे यह महायोग आपको बतलाया, अब कहिये, मुझे और क्या करना होगा?'

खाण्डिक्यने कहा—'महाभाग! आपने मुझे यह महायोग बतलाकर सब कुछ दे दिया है, आज आपके उपदेशसे मेरे चित्तका सभी मल नष्ट हो गया। इसमें कोई संदेह नहीं कि मैं जो यह 'मेरा' 'मेरा' कहता हूँ सो सर्वथा मिथ्या है। 'मैं' और 'मेरा' के द्वारा व्यवहार होता है, परंतु वास्तवमें यह अविद्या ही है। परमार्थ वाणीके अगोचर होनेसे जबानकी चीज नहीं है। केशिध्वज! आपने मुझको मुक्ति देनेवाला यह महायोग बतलाकर मेरा बहुत ही उपकार किया है, अब आप अपने कल्याणके लिये घर पधारिये।'

तदनन्तर केशिध्वज खाण्डिक्यके द्वारा पूजित होकर अपने घर लौट आये। खाण्डिक्यने यम-नियमादिकी साधनाके द्वारा परमात्मामें चित्त लगाकर अन्तमें निर्मल परब्रह्मको प्राप्त किया। इधर केशिध्वज भी भोगोंके द्वारा अदृष्टका क्षय करके निष्काम कर्म करते हुए निर्मल-चित्त होकर परमसिद्धिको प्राप्त हो गये। (विष्णुपुराणके आधारपर)

भोग और त्याग

आधुनिक मनोविज्ञानके विश्लेषण (New Psycho-analysis) का सिद्धान्त यह प्रतिपादित करनेकी भरपूर चेष्टा कर रहा है कि 'भोगोंको अतिमात्रामें भोग लेनेसे ही शान्ति मिलती है और तभी भोगोंसे हमारी विरति होती है। इस मतके अनुसार मनुष्य भोगोंसे भागकर उनसे पिण्ड नहीं छुड़ा सकता। भाग जानेपर भी वह बार-बार उनमें फँसेगा, इसलिये आवश्यक है कि भोगोंको खूब भोगकर, उनका खूब अनुभव करके, उनके आनन्द और उपभोगकी अतिमात्राके कारण विरसताका भी अनुभव करके उन्हें सदाके लिये छोड़ दिया जाय। भोगोंका अतिभोग ही सच्ची विरक्ति ला सकता है, न कि उसके प्रति अज्ञान या अवहेलना।'

दूसरा मत जो हमारे यहाँ बहुत ही प्राचीन कालसे चला आ रहा है और जिसकी घोषणा हमारे शास्त्र और संत डंकेकी चोट कर रहे हैं—यह है कि भोगोंके त्यागसे ही शान्ति मिल सकती है; भोगोंकी कोई इति नहीं। अस्तु, उनसे अलग हो जाना ही, उनको त्याग देना ही कल्याणकामियोंके लिये सर्वथा उचित तथा उपादेय है। इस मतके लोगोंका कथन यह है कि भोगोंकी अतिसे क्षणिक विरति भले ही हो, पर बार-बार मन उनमें फिर भी जा सकता है।

दोनों ही मत अपने-अपने विचारसे ठीक हैं; क्योंकि एक बात तो दोनोंमें ही है और वही मुख्य है—वह है शान्तिकी इच्छा। किसी प्रकार हो, लोग शान्तिकी खोजमें हैं, शान्ति चाहते हैं और उसी शान्तिके लिये भिन्न-भिन्न मार्ग तथा मत स्थापित करते हैं। भगवान्‌ने गीताजीमें शान्ति-प्राप्तिके बहुतसे उपाय विभिन्न अधिकारियोंके लिये बतलाये हैं, उनमेंसे एक यह है—

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥
(२।७१)

इस श्लोकमें भगवान्‌ने चार बातें बतलायी हैं—जो पुरुष (१) सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर, (२) सर्वथा ममतारहित होकर, (३) अहङ्काररहित, और (४) स्पृहारहित हुआ बर्तता है, वह शान्तिको प्राप्त करता है। और जब भीतर शान्ति नहीं है, चित्त अशान्त है, तब सुख कहाँ—'अशान्तस्य कुतः सुखम्?' मनमें किसी कामनाका उदय होना ही यह सूचित करता है कि कोई अभाव है। अभावके बोधमें ही प्रतिकूलता है और प्रतिकूलता ही अशान्ति है—दुःख है। कामना दो प्रकारकी होती है—(१) प्रतिकूल वस्तु है तो उसका नाश हो जाय, (२) अनुकूल वस्तु नहीं है तो वह मिल जाय। ये दो प्रकारके अभाव होते हैं—एकमें प्रतिकूलके नाशका अभाव है, दूसरेमें अनुकूलके न होनेसे अभाव है, यह अभावका बोध ही प्रतिकूलता है और प्रतिकूलता ही दुःख है। जहाँतक कामना है, वहाँतक अभावका अनुभव है। अभाव ही प्रतिकूलता

और प्रतिकूलता ही अभाव है। अतः जहाँतक इन कामनाओंका नाश नहीं हो जाता, वहाँतक शान्ति नहीं मिल सकती।

कामनाके नाशके लिये ही उपर्युक्त दोनों मार्ग हैं—भोगोंको भोगना, अतिमात्रामें भोगना, इतना कि भोगते-भोगते उनकी ओरसे मन ऊब जाय—हट जाय और दूसरा यह कि भोग-कामनाको उगने ही नहीं देना, आरम्भसे ही भोगोंका त्याग कर देना। दृष्टिभेदसे दोनों ही ठीक हैं। एक ही वस्तु एक ही व्यक्तिको हर समय बार-बार दी जायगी तो वह कभी-न-कभी उससे अवश्य ही ऊब जायगा। यदि किसी व्यक्तिको खीर खानेकी इच्छा है तो उसे हर समय यदि केवल खीर ही खानेको दी जाय तो वह ऊब उठेगा, खीरसे घबरा जायगा। इसी प्रकार स्त्री-सुख है। यदि किसी पुरुषको खाने-पीनेको कुछ भी न दिया जाय और रात-दिन केवल स्त्री-सम्भोगकी ही छुट्टी दे दी जाय तो वह उससे शीघ्र ही ऊब उठेगा। भोगोंको अतिमात्रामें पानेसे उनसे स्वाभाविक ही अरुचि होती है।

परंतु एक बात स्मरण रखनेकी है और वह यह कि कामनाके प्रधानतया दो रूप होते हैं—वासना और इच्छा। जबतक मनमें वासना है, तबतक इच्छा भी होगी ही। वासना सूक्ष्म है, इच्छा स्थूल है। जबतक वासना नष्ट नहीं होती, तबतक यह सर्वथा सम्भव है कि कुछ समय बाद वह स्थूल रूपमें इच्छा बनकर फिर जाग उठे। खीर अधिक खा लेनेसे आज हमारी तृप्ति हो जाती है और उस समय उससे हमारी अरुचि हो जाती है; हम और नहीं चाहते; पर यदि हमारे मनसे उसकी वासना न मिटी तो कुछ दिनों बाद फिर खीरके स्वादको स्मरण आयेगा और हम उसे पाना चाहेंगे। ठीक यही बात

स्त्री-सम्भोगकी भी है । आज उसकी अतिमात्राके कारण उससे भले अरुचि हो जाय, पर महीने-दो-महीनेमें फिर वह वासना घर दबायेगी और उस समय पहलेकी विरतिका स्मरणतक भी नहीं होगा । चित्त जब मुरझाया हुआ होता है, उस समय मनमें ऐसा भासता है कि भीतर भोगकी गन्ध भी नहीं है । पर अवसर और अनुकूल संयोग पाते ही दबी हुई वासना उदय हो ही जाती है । बीमारीकी हालतमें चित्त भोगोंसे हटता है, पर बीमारी बीतनेके बाद फिर वही चाट । अघा जानेपर एक बार विषयोंसे जो उपरति होती है, वह विषयोंसे हमारी स्थायी विरक्ति है, ऐसा नहीं कहा जा सकता; क्योंकि यदि वासनाका सर्वथा नाश हो गया होता तो फिर वह उगती कहाँसे ? भोगोंको अधिक भोग लेनेसे मनमें जो तात्कालिक विरति होती है, वह स्थायी नहीं कहला सकती ।

इसी प्रकार बलात्कारसे भोगोंके त्यागकी बात है । उनका हम हठसे त्याग करते हैं । जबतक वासनाका त्याग नहीं होता, तबतक मन उनपर चलता रहता है । जहाँ उस निग्रहका नियम ढीला हुआ कि फिर मन उसी वस्तुपर चला जाता है । भोगोंका अधिक भोग तथा हठपूर्वक त्याग दोनोंसे ही—जबतक चित्तमें वासना है, तबतक स्थायी और सच्ची विरति या उपरति प्राप्त नहीं होती, अतः तबतक शान्ति-सुख भी नहीं मिल सकते । वासनाका मूल नहीं कटता—किसी कारणसे वह दब-सी जाती है, पर फिर उभर आती है । बहुत बार हम उसे नियमोंके द्वारा दबा देते हैं; पर मन बरबस बार-बार उधर ही जाता है । दोनोंमें ही कामनाका आत्यन्तिक नाश नहीं होता । जबतक

अविद्याका—मोहका नाश नहीं होता, तबतक भोगोंका त्याग न हठ-पूर्वक त्यागसे ही हो सकता है, न अधिक भोगसे ही।

यहाँ सहज ही प्रश्न उठता है कि 'वासना-नाशके लिये फिर दोनोंमें—अतिभोग और भोगत्यागमें—सही मार्ग कौन-सा है? कौन-सा ऐसा पथ है, जिसके द्वारा हम वासनाका यथार्थतः त्याग कर सकते हों और जो बराबर सुरक्षित हो।' इसके उत्तरमें इतना तो डंकेकी चोट कहा जा सकता है कि 'त्यागका मार्ग' ही श्रेष्ठ है। यही हमारे शास्त्रोंका निचोड़ है, यही हमारे संत-महापुरुषोंकी अनुभव-पूर्ण अमर वाणी है। भोगोंके भोगनेसे और अधिक प्राप्तिसे भले ही शरीर दुर्बल हो जाय, पर भोगोंकी कामना मिट जाती हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। जब शरीर अशक्य हो जाय और चित्त व्याकुल हो, तब भले ही कामनाका अभाव-सा प्रतीत हो; परंतु जहाँ शक्ति हुई कि पुनः वे ही कामनाएँ और भी भयानक रूपमें सामने आ जाती हैं। भोगोंसे भोग-कामनाका उपशमन कभी नहीं होता?

बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ विषय भोग बहु घी ते।

राजा ययातिने बहुत भोग भोगे, परंतु भोगोंसे तृप्ति हुई ही नहीं, तब हारकर कहा—

यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
न दुह्यन्ति मनःप्रीतिं पुंसः कामहतस्य ते॥
न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥
यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेष्वमङ्गलम्।
समदृष्टेस्तदा पुंसः सर्वाः सुखमया दिशः॥

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्जीर्यतो या न जीर्यते ।
तां तृष्णां दुःखनिवहां शर्मकामो द्रुतं त्यजेत् ॥
(श्रीमद्भा० ९ । १९ । १३-१६)

'जिसका चित्त कामनाओंसे ग्रस्त है, उस पुरुषके मनको पृथ्वीमें जितने भी भोग्यपदार्थ—धान्य, सुवर्ण, पशु और स्त्रियाँ हैं, सब मिलकर भी संतुष्ट नहीं कर सकते । विषयके भोगनेसे भोगवासना कभी शान्त नहीं हो सकती, वरं जैसे घीकी आहुति डालनेपर आग और भड़क उठती है, वैसे ही भोगोंकी प्राप्तिसे भोगवासनाएँ भी प्रबल हो जाती हैं । जब मनुष्य किसी भी प्राणी और किसी भी वस्तुके साथ रागद्वेषका भाव नहीं रखता, तब वह समदर्शी हो जाता है तथा उसके लिये फिर सभी दिशाएँ सुखमयी बन जाती हैं । विषयोंकी तृष्णा ही दुःखोंका उद्भवस्थान है, मन्दबुद्धि मनुष्य बड़ी कठिनाईसे उसका त्याग कर सकते हैं । शरीर बूढ़ा हो जाता है, पर तृष्णा नित्य तरुणी ही बनी रहती है । अतः जो कल्याण चाहता है, उसे शीघ्र-से-शीघ्र इस तृष्णा (भोग-वासना) का त्याग कर देना चाहिये ।'

ज्यों-ज्यों मनचाही चीज मिलने लगती है, त्यों-त्यों मनचाहीकी सीमा और आगे बढ़ती जाती है । यदि भोगोंकी प्राप्तिमें ही वास्तविक तृप्ति होती तो किसी भी अवस्थामें तो मनुष्य यह कहता कि 'अब और नहीं चाहिये ।' पर देखनेमें आता है कि करोड़पति-अरबपतिमें भी वही हाहाकार है, वही अशान्ति है, वही 'अभी कुछ और' की पुकार बनी हुई है । जबतक अविद्याका नाश नहीं होता, तबतक शान्ति कहाँ ?

संसारके समस्त सुख-भोग, समृद्धि-वैभव पाकर भी यह जीव तृप्त नहीं होता इसका क्या कारण है ? हम सम्राट् भी हो जायँ फिर भी इच्छाओंकी इति नहीं—इसमें क्या हेतु है ? यह जीव सच्चिदानन्द है। आत्माका सनातन अंश है, नित्य पूर्ण है, इसकी तृप्ति अपूर्णसे कैसे होगी ? यह जिस अवस्थाको प्राप्त करता है, जहाँ भी यह जाता है, सम्राट् होनेपर भी यह देखता है कि वहाँ पूर्णता नहीं। देवराज इन्द्र बन जानेपर भी पूर्णताका बोध नहीं होता। वहाँ भी अतृप्त रहता है। जीवकी यह 'आत्यन्तिक अतृप्ति' यह सूचित करती है कि यह उस अवस्थाकी खोजमें है जो नित्य, सत्य, परिपूर्ण, अज, अविनाशी, शाश्वत, सनातन है। जबतक उसकी प्राप्ति नहीं होती तबतक इसे शान्ति नहीं मिलती। यदि भोगोंसे ही वासना मिट जाय तब तो इस सिद्धान्तमें ही बाधा आ जायगी। क्या जीव अपूर्णसे कभी तृप्त होगा ? असलमें जीवके लिये इन अपूर्ण वस्तुओंकी प्राप्ति और उनमें रति पूर्णकी प्राप्तिमें बाधक है। 'असत्में सद्बुद्धि, अनित्यमें नित्यबुद्धि, दुःखमें सुखबुद्धि और अपवित्रमें पवित्रबुद्धि' ही तो अविद्याके लक्षण हैं। जब यह असत्, अनित्य, अपवित्र और दुःखरूपी वस्तु पूर्णकी प्राप्तिमें बाधक है, तब फिर इसीके बलपर—अविद्याका सहारा लेकर जीव अपनी शाश्वती परमानन्द-स्थितिको कैसे प्राप्त करेगा ? हमें तो अपने घर पहुँचना है, यदि राहकी ही किसी वस्तुपर हमारा मन लुभा गया और उसीमें हम रम गये, राहमें ही रह गये तो मार्ग छूटा, घरकी ओर बढ़नेसे रुके और घरसे अलग ही रह गये। इसीलिये तो संसारशिखरपर खड़े होकर संत-महात्मा हमें

चेताते हैं—'घर लौटो, राहमें न भटको ! यह संसार दुःखालय है, अशाश्वत है, अनित्य है, असुख है, इसमें न भरमो ।' भगवान्‌ने कहा है—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ।

'इस क्षणभङ्गुर और सुखरहित संसारको पाकर मुझे भजो ।' तुम्हारा मार्ग न छूटे । रास्ता छोड़कर अन्यत्र न भटक जाओ । दुःखका यह भंडार है, क्षणभर भी ठहरनेवाला नहीं है ! सावधान ! भोगोंमें ही जब सुखका, तृप्तिका बोध होने लगेगा, तब मनुष्य वहीं ठहर जायगा । इसका परिणाम ? परिणाम तो स्पष्ट है—वह आत्मासे वञ्चित रह जाता है । 'घर' नहीं पहुँचता, बीचमें ही रुक जाता है । और भोगोंमें तृप्ति कहाँ ? ज्यों-ज्यों भोग मिलते हैं, वासना बढ़ती जाती है । इसीलिये संत कहते हैं—इन्हें छोड़ो—'विषयान् विषवत्त्यज !' भोगोंको विषके समान त्याग दो ! भोगोंसे तृप्ति नहीं होती, हो नहीं सकती ।

हमारे मनमें जो स्फुरणा होती है, उसका कारण है—हमारी संचित कर्मराशि । संचित है क्रियमाणकी पूँजी । क्रियमाणकी तहपर तह लग जाती है—कर्मोंकी बड़ी भारी तह लग गयी । इसी कर्मराशिका नाम संचित है, इस संचितसे कुछ सार लेकर प्रारब्ध बनता है । क्रियमाण और प्रारब्धका यही स्वरूप है । स्फुरणा उसी संचितकी अधिक होती है, जो नवीन होता है । जो कर्म आदमी वर्तमानमें करता है उसीका नया संचित बनता है । संचितसे स्फुरणा (कर्मप्रेरणा) उत्पन्न होती है और बार-बार जैसी स्फुरणा होती है प्रायः वैसा ही

नया कर्म बनता है। नया कर्म ही संचित बन जाता है, उसीकी फिर स्फुरणा होती है। यों चक्र चलता जाता है। इससे पुराने संचितके पुराने संस्कार दब जाते हैं। जैसे गोदाममें जो माल सबके बाद रक्खा जाता है, निकालते समय सबसे पहले वही निकलता है। इसी प्रकार अन्तरमें जो अनन्त कर्मराशिकी तह-पर-तह लगी है, उनमेंसे उसीकी स्फुरणा पहले होती है, जो सबसे आगेकी या ऊपरकी स्तरका कर्म होता है। जैसे गोदाममें नीचे प्याज दबा है, ऊपर और आगे केसर-कपूर भर दिया जाय तो प्याजकी गन्ध दब जाती है और केसर-कपूरकी आती है। इतना होनेपर भी कभी-कभी वायुके झोंकेसे नीचे दबे प्याजकी भी गन्ध आ जाती है। वैसे ही वर्तमानके शुभ कर्मोंकी शुभ स्फुरणा होनेपर भी मनमें संचित अशुभ कर्मोंकी अशुभ स्फुरणा भी कभी-कभी हो ही जाती है। पर यदि मनुष्य लगातार शुभका ही संचय करता जाय तो पुराने कर्म बहुत नीचे दब जाते हैं। इसलिये मनुष्यको चाहिये कि वह बराबर शुभ सङ्गमें रहे और शुभको पकड़े रहे। तो इस प्रकार धीरे-धीरे उसके सारे बुरे कर्म और भाव दबकर नये शुभ और पुण्य भाव उदय होंगे। नवीन कर्म पुरुषार्थप्रधान है। बार-बार सत् पुरुषार्थ करे। यों करते रहनेसे आगे चलकर शुभका एक ऐसा सुन्दर चक्र बन जायगा कि फिर अशुभ होगा ही नहीं और जब शुभ खूब बढ़ जायगा, तब ज्ञानाग्नि उत्पन्न होगी ही। जैसे केसर-कपूरकी प्रचुरता होनेपर कभी रगड़ लगकर आग उत्पन्न हो ही जाती है। ज्ञानाग्नि शुद्ध अन्तःकरणमें ही उत्पन्न होती है। ज्ञानाग्नि सारी भली-बुरी कर्मराशिको भस्मकर मनुष्यको सच्ची निष्कर्मता प्रदान करती है। गोदाममें आग लग गयी,

बुरा-भला सब भस्म हो गया। यदि हम त्यागके मार्गपर रहें तो सारा जीवन त्यागमय हो जाता है। यदि भोगमें रहें तो फिर नये-नये भोगोंका परिचय, उनमें रुचि, वासना, आसक्ति और उनकी कामना मनमें बढ़ती जाती है और परिणामस्वरूप मनमें उन्हींका संस्कार दृढ़ होता है। इससे निश्चय ही नये-नये पाप होते हैं। मनुष्यको यह निश्चितरूपसे समझ लेना चाहिये कि पाप होनेमें कारण प्रारब्ध नहीं, कामासक्ति है। अर्जुनके पूछनेपर कि 'इच्छा न होनेपर भी मनुष्यसे बलात्कारसे कराये हुएकी भाँति पाप कौन करवाता है?' भगवान्‌ने कहा—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥
(गीता ३। ३७)

'अर्जुन! यह रजोगुण (रागात्मक वृत्ति—आसक्ति) से उत्पन्न काम (कामना) ही क्रोध है। यह कभी न अघानेवाला (भोगोंसे सदा अतृप्त रहनेवाला) और महान् पापी (पापोंका उत्पादक) है, इस सम्बन्धमें तू इसीको वैरी समझ।' पापोंकी जड़ है बस भोगकामना।

भगवान्‌ने बतलाया है—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद् भवति संमोहः संमोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥
(गीता २। ६२-६३)

('मनसहित इन्द्रियोंको वशमें करके उन्हें भगवत्परायण न कर दिया जायगा तो) मनके द्वारा विषयोंका चिन्तन होगा और विषयोंको चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें भी कामना उत्पन्न होगी, कामनामें विघ्न पड़नेसे क्रोध होगा (और कामना सफल होनेपर लोभ) । क्रोध (या लोभ) बढ़ते ही महान् मूढ़भाव उत्पन्न होगा और मूढ़तासे स्मरणशक्ति नष्ट-भ्रष्ट हो जायगी, स्मृतिके भ्रंश हो जानेसे बुद्धि अर्थात् विवेकशक्तिका नाश हो जायगा और बुद्धिके नाश होनेसे यह पुरुष अपने श्रेयसाधनसे सर्वथा भ्रष्ट हो जायगा ।' इस प्रकार विषयके स्मरणमात्रसे मनुष्यका सर्वनाश हो जाता है । अच्छे-से-अच्छे संस्कारवाला पुरुष भी विषयोंके चिन्तनमें लग जाय तो वह महापापी हो जायगा । और उधर महा-पापी भी चित्तके द्वारा विषयोंका चिन्तन छोड़कर भगवान्‌के चिन्तनमें लगे तो वह शीघ्र ही पुण्यात्मा हो जायगा—

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।

'वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और उसे शाश्वती शान्ति प्राप्त होती है ।' विषयोंके चिन्तनमात्रसे अशान्ति एवं सर्वनाशका द्वार खुल जाता है और भगवान्‌के स्मरणमात्रसे आनन्द और शान्तिका अमृत बरस पड़ता है । यह है महान् अन्तर । विषयोंके चिन्तनका अर्थ है—सर्वनाश । भगवान्‌के शरणका अर्थ है—आत्माको परम शान्तिकी प्राप्ति । भोगका अर्थ है—बार-बार मरना, बार-बार जन्म-मृत्युके चक्करमें पड़ना । त्यागका अर्थ है—मृत्युसे आत्यन्तिक निवृत्ति, भगवत्प्राप्ति !

इस प्रकार भोगोंसे भोगका नाश कैसे होगा ? 'छूटइ मल कि मलहि के धोएँ ?' बहादुरीके साथ, निष्ठा और लगनके साथ भोगोंका त्याग करना चाहिये। भोगविषयोंका त्याग लोगोंको दिखानेके लिये—दम्भके लिये न हो, ईमानदारीसे होना चाहिये। साधन दूसरी वस्तु है तथा साधनका दम्भ दूसरी। लोगोंको दिखलानेके लिये जो कुछ होता है, मान-सम्मानकी आशासे जो कुछ किया जाता है, उसे दम्भ समझना चाहिये। त्यागका स्वाँग त्याग नहीं है। महिमा तो सच्चे त्यागकी है। निश्छल, निष्कपट त्याग ही त्याग है।

त्याग होना चाहिये यथार्थ, सच्चा। ऊपरसे त्याग हो और मनमें चिन्तन चलता रहे, कामनाकी आग बुझे नहीं तो वह दम्भाचार होगा। भोगत्यागका असली अर्थ है—भोगकामनाका त्याग। उस त्यागसे तुरंत शान्ति मिलती है। संसारमें रहनेवालेसे भोगका सर्वथा त्याग तो होगा ही नहीं। पर राग-द्वेषरहित होकर वशमें किये हुए मन-इन्द्रियोंसे जो संयमित (शास्त्रविहित परिमित और नियमित) विषयोंका भोग होता है, उससे प्रसाद (अन्तःकरणकी प्रसन्नता और निर्मलता) प्राप्त होता है तथा उस प्रसादसे सारे दुःखोंका नाश हो जाता है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
(गीता २ । ६३-६४)

दुःखनाशके अमोघ उपाय

सभी प्राणी सुख चाहते हैं और वह सुख भी अखण्ड, पूर्ण और नित्य चाहते हैं। परंतु मोहवश उसकी खोज करते हैं संसारके पदार्थोंमें, जो स्वयं अपूर्ण, खण्ड और अनित्य हैं। भगवान्‌ने उनको सुखरहित और अनित्य अथवा दुःखालय और अशाश्वत बतलाया है। सो सत्य ही है। जो वस्तु अपूर्ण, खण्ड और अनित्य होती है, वह कभी सुख नहीं दे सकती। फिर जगत्‌में जो हम सुख देखते हैं, वह क्या है? वह है भ्रान्ति। असलमें तो 'विषयोंमें सुख है,' ऐसी कल्पना ही भ्रम है। भगवान्‌ने भोगोंको दुःखयोनि बतलाया है। भगवान् कहते हैं—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥

(गीता ५ । २२)

'अर्जुन ! ये जो इन्द्रियोंके स्पर्शसे उत्पन्न भोग हैं, सब दुःखकी उत्पत्तिके स्थान हैं और आदि-अन्तवाले हैं । बुद्धिमान् पुरुष उन भोगोंमें कभी प्रीति नहीं करता ।'

वस्तुतः जगत्के सुख-दुःख सब केवल अनुकूलता और प्रतिकूलताको लेकर ही हैं । जहाँ अनुकूलताका बोध है, वहाँ सुख है और जहाँ प्रतिकूलताका बोध है, वहीं दुःख है । किसी स्थिति, घटना या वस्तुमें सुख-दुःख नहीं हैं । एक आदमीकी मृत्यु होती है । उसमें जिनका ममत्व है, वे प्रतिकूलताका अनुभव करके रोते हैं और जिनकी शत्रुता है, वे अनुकूलताके बोधसे हँसते हैं और आनन्द मनाते हैं । नारदजी पूर्वजन्ममें जब वे दासीपुत्र थे और बहुत छोटी उम्रके—केवल पाँच वर्षके—थे, तब उनकी आश्रयभूता एकमात्र माताको साँपने डस लिया । माता मर गयी, इसपर नारदजीको दुःख नहीं हुआ । उन्होंने सोचा कि 'माता मेरे भजनमें एक प्रतिबन्धक थी । भगवान्ने बड़ा अनुग्रह किया जो माताका देहान्त हो गया ।' वे माताके इकलौते पुत्र थे । परंतु अनुकूलताकी भावनासे वे दुखी नहीं हुए । नरसी भक्तके इकलौते और अत्यन्त प्यारे जवान पुत्रकी मृत्यु हो गयी । नरसीजीने उसमें अनुकूलताका अनुभव किया और दुखी न होकर वे गाने लगे—'भलुं थयुं भाँगी जँजाळ । सुखे भजीशुँ श्रीगोपाळ ।' 'अच्छा हुआ जंजाल टूट गया, अब सुखसे श्रीगोपालजीका भजन करूँगा ।' लगभग पैंतालीस वर्ष पहलेकी बात

है। कलकत्तेके 'अलीपुर बम केस'में जिसमें श्रीअरविन्द तथा उनके भाई श्रीबारीन्द्रकुमार घोष आदि अभियुक्त थे, नरेन्द्र गोस्वामी नामक एक युवक सरकारी गवाह बन गया था। उसको जेलमें ही एक दूसरे अभियुक्त श्रीकन्हाईलाल दत्तने मार डाला। कन्हाईलालको फाँसीकी सजा हुई। पर उसको अपने इस कार्यपर इतना अधिक संतोष और आनन्द था कि फाँसीकी सजा सुनायी जाने और फाँसी होनेके बीचके दो-तीन सप्ताहके समयमें ही उसका कई पौंड वजन बढ़ गया। कहाँ तो मौतके नामसे खून सूख जाता है, कहाँ मृत्युकी तिथि निश्चित हो जानेपर भी खून बढ़ गया। गोस्वामीको मारना पाप था या पुण्य, यह पृथक् प्रश्न है। पर कन्हाईलालने अपनी इस मृत्युमें इतनी अधिक विलक्षण अनुकूलताका बोध किया और इतना अधिक सुखका अनुभव किया कि जिसने उसका इतना खून बढ़ा दिया। अतएव किसी घटनामें सुख-दुःख नहीं है। वह तो अनुकूलता और प्रतिकूलताके भावमें ही है।

एक ध्यानका अभ्यास करनेवाला साधक कोठरी बंद करके बैठता है और कहता है कि 'बाहरसे ताला लगा दिया जाय। तीन घंटे कोई खोले नहीं।' वह अंदर बैठकर मनको रोकने और इष्टका ध्यान करनेकी कोशिश करता है। यद्यपि नया साधक होनेसे उसका मन टिकता नहीं, पर वह इसमें सुखका अनुभव करता है। और उसी कोठरीकी बगलकी दूसरी कोठरीमें एक आदमीको उसकी इच्छाके विरुद्ध बंद कर दिया जाता है। वह बड़ा दुखी होता है और कहता है कि 'तुरंत मुझे बाहर निकाल दिया जाय।' बंद करनेवालोंको वह दुर्वचन

कहता है, शाप देता है। दोनोंकी बाहरी स्थिति बिल्कुल एक-सी है। दोनों ही एक-सी जगह बंद हैं। दोनोंके ही मन चञ्चल हैं। पर एक अनुकूलताका बोध करता है, दूसरा प्रतिकूलताका। इसीके अनुसार वे दोनों सुख-दुःखका भी पृथक्-पृथक् अनुभव करते हैं।

एक आदमी अपने विपुल धनैश्वर्यका स्वेच्छापूर्वक त्याग करके संन्यास ग्रहण करता है और दूसरेका धन छीनकर उसे वैरी लोग घरसे निकाल देते हैं। दोनों समान धनहीन हैं। पर पहला प्रसन्न है, दूसरा दुखी है। इसका कारण वही अनुकूलता-प्रतिकूलताका बोध है। इससे सिद्ध है कि यहाँके सुख-दुःख अनुकूल-प्रतिकूलभावमें ही हैं। एक भूखा आदमी है, बढ़िया-बढ़िया भोजन-पदार्थ बने हैं, वह खानेको लालायित है। खाने बैठता है, बड़ा स्वाद, बड़ा सुख मिलता है। भर पेट खा लिया, खूब अघा गया। अब वही पदार्थ यदि कोई उसे जबर्दस्ती खिलाना चाहता है तो उसे गुस्सा आ जाता है। वह उद्विग्न हो जाता है। पहले अनुकूलभाव था, तब सुख मिला। प्रतिकूल होते ही दुःख हो गया। अतः सुख-दुःख वस्तुमें नहीं हैं।

यह भी निश्चित है कि यहाँकी प्रत्येक अनुकूलता अनेकों प्रकारकी प्रतिकूलताओंको साथ लेकर आती है। एक अभावकी पूर्ति दसों नये अभावोंकी उत्पत्ति करनेवाली होती है। यहाँकी वस्तुमात्र ही—स्थितिमात्र ही अपूर्ण, अनित्य, क्षणभङ्गुर, वियोगशील और किसी अन्य वस्तु या स्थितिसे निम्न स्तरकी है। जहाँ यह परिस्थिति है वहाँ प्रतिकूलता रहेगी ही; और प्रतिकूलता रहेगी तो दुःख भी रहेगा ही। अतः कोई यह चाहे कि मैं जगत्में सारी परिस्थितियोंको

सदा अपने अनुकूल बना लूँगा और परम सुखी हो जाऊँगा तो यह सर्वथा असम्भव है। ऐसा कभी हो ही नहीं सकता। विचारके द्वारा प्रत्येक प्रतिकूलताको उपर्युक्त नारदजी और नरसीजीकी भाँति अनुकूलतामें परिणत कर लेना पड़ेगा, तभी सुख होगा। और ऐसा करना मनुष्यके अपने हाथकी बात है। स्वरूपतः बाह्य परिस्थितिको बदल देना तो बहुत ही कठिन है, निश्चित प्रारब्ध होनेपर तो असम्भव-सा ही है; परंतु विचारके द्वारा दुःखको सुखरूपमें परिणत करके सुखी हो जाना सहज है और अपने अधिकारमें है। इसके कई तरीके हैं, जो सभी सत्यके स्वरूप हैं।

१—वेदान्तकी दृष्टिसे जगत् स्वप्नवत् है। मायासे ही यह सत्य भास रहा है। गीतामें भगवान्ने कहा है—

> न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
> नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।
> (१५।३)

'इसका स्वरूप जैसा दीखता है वैसा मिलता नहीं और इसका न आदि है, न अन्त है और न इसकी अच्छी तरहसे स्थिति ही है।' सिनेमा देख रहे हैं। नाना प्रकारके दृश्य दिखलायी दे रहे हैं। आवाज सुनायी पड़ रही है। परंतु कोई चाहे कि इन देखी हुई वस्तुओंको पर्देके पास जाकर मैं ले लूँ तो उसे सर्वथा निराश होना पड़ता है। वहाँ सिवा सादे पर्देके और कुछ है ही नहीं। अथवा जैसे स्वप्नकी सृष्टिके पदार्थ और वहाँकी घटनाएँ जागनेपर नहीं मिलतीं, पर जबतक स्वप्न है, तबतक यह पता नहीं लगता कि यह

स्वप्नकी सृष्टि कबसे बनी है और यह कबतक रहेगी । वहाँ तो यह नित्य ही मालूम होती है । पर सचमुच उसकी वहाँ कुछ भी प्रतिष्ठा—स्थिति नहीं है । स्वप्न टूटा कि कुछ नहीं । अतएव जगत्‌के समस्त सुख-दुःख स्वप्नकी सृष्टिके सुख-दुःखोंकी भाँति असत् हैं, जागनेपर जैसे स्वप्नके देखे हुए पदार्थोंकी सत्ता नहीं रहती, वैसे ही ज्ञानमें इनकी भी सत्ता नहीं है, इसलिये इन घटनाओंको लेकर सुखी-दुखी होना मूर्खता है। एक ही अखण्ड परिपूर्ण परमात्मसत्ता है, वह नित्य सत्य सच्चिदानन्द-घन है । उसमें न जन्म है न मृत्यु, न सुख है न दुःख, न लाभ है न हानि । वह सदा सम, एकरस और कूटस्थ है । इस प्रकारके विचारसे दुःखका नाश हो जाता है । संसारकी स्थिति कुछ भी हो, इस प्रकारके निश्चयवाले पुरुषको सुख-दुःख कभी नहीं होता । श्रीगीतामें कहा है—

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥

वह प्रिय (जिसको लोग प्रिय या सुख कहते हैं) को प्राप्त करके हर्षित नहीं होता । अप्रिय (जिसको लोग अप्रिय या दुःख कहते हैं) को प्राप्त करके उद्विग्न नहीं होता; क्योंकि वह उसकी बुद्धि स्थिर हो गयी है, उसके सब सन्देह मिट गये हैं, वह ब्रह्मको जान गया है और ब्रह्ममें स्थित है ।

वह निरतिशय आत्यन्तिक आनन्दका अनुभव करता है । आनन्दरूप ही हो जाता है । फिर उसके लिये दुःख रहता ही नहीं ।

ऐसी स्थिति न हो, तबतक विचारपूर्वक ऐसी धारणा करे । इस धारणासे ही दुःखका नाश हो जाता है ।

२—जगत्में जीवोंके लिये फलरूपसे जो कुछ भी प्राप्त होता है, सब सर्वशक्तिमान् जीवोंके परम सुहृद् भगवान्के नियन्त्रणमें और उनके विधानसे होता है। मङ्गलमय प्रभुका प्रत्येक विधान मङ्गलमय है। देखनेमें चाहे कितना ही भयंकर हो, पर वास्तवमें वह कल्याणमय ही है। निपुण डाक्टर जहरीले फोड़ेका ऑपरेशन करते हैं। छुरियोंसे अङ्गको काटते हैं। दर्द भी होता है। पर डाक्टर यह क्रूर कार्य करते हैं रोगीके मङ्गलके लिये। तथा रोगी यदि विश्वासी और समझदार है तो वह इस निष्ठुर पीड़ादायक कर्ममें भी डाक्टरकी दया मानकर प्रसन्न होता है और उसका कृतज्ञ होता है। इसी प्रकार हमारे परम सुहृद् मङ्गलमय भगवान् भी कभी-कभी हमारे मङ्गलके लिये ऑपरेशन किया करते हैं। इस बातपर हमें विश्वास हो जाय तो फिर दुःख रहेगा ही नहीं। छोटे बच्चेको माँ रगड़-रगड़कर नहलाती है, बच्चा रोता है, पर माँ उसके शरीरका मैल उतारकर उसे स्वच्छ, पवित्र, निर्मल बनाकर नये कपड़े पहनाने और सजानेके लिये ही यह आयोजन करती है। इसी प्रकार भगवान् भी हमें निर्मल और पवित्र बनानेके लिये पापोंका फल—कष्ट भुगताया करते हैं। इसमें भी उनका वात्सल्य और कारुण्य भरा रहता है। इस दृष्टिसे यदि हम विश्वासपूर्वक विचार करें तो फिर दुःख नामक कोई वस्तु नहीं रह जाती और हम हर-हालतमें भगवान्के मङ्गलविधानका दर्शन करके भगवान्के मङ्गलमय करकमलका स्पर्श पाकर आनन्दमुग्ध रह सकते हैं।

३—जगत्में वास्तवमें दो ही तत्त्व हैं—भगवान् और भगवान्की लीला। 'जो कुछ है, सब भगवान् हैं,' और 'जो कुछ हो रहा है, सब भगवान्की लीला हो रही है।' एवं लीलामय और लीलामें वैसे ही अभेद है जैसे अग्नि और उसकी दाहिका शक्तिमें। अथवा सूर्य और सूर्यके प्रकाशमें। अतः हमारे साथ जो कुछ हो रहा है, सब हमारे प्रियतम भगवान्की लीला ही हो रही है। इस लीलाका संस्पर्श वस्तुतः लीलामय भगवान्का ही संस्पर्श है। विश्वासपूर्वक इस प्रकारका भाव हो जानेपर दुःखका सर्वथा अभाव हो जाता है। क्षण-क्षणमें प्रत्येक सुख-दुःखसंज्ञक भोगोंमें लीलाविहारी भगवान्का मङ्गलमय स्पर्श प्राप्त होता रहता है, जिससे नित्य नव-नव आनन्द-रसकी धारा बहती रहती है।

ये तीनों ही बातें सिद्धान्ततः सत्य हैं। जगत् स्वप्नवत् है—केवल ब्रह्म ही व्याप्त है। जगत्में सब कुछ मङ्गलमय भगवान्के मङ्गल विधानसे मङ्गल ही हो रहा है और जगत्में भगवान् ही अपने आपसे आप ही खेल रहे हैं। तीनोंका ही तात्त्विक स्वरूप एक ही है। यह वस्तुतः सत्यको सत्यमें देखना है, जो मानव-जीवनका परम कर्तव्य है। इसीका फल भगवत्प्राप्ति या पूर्ण सुखरूप मोक्ष है।

इस प्रकार अशेष दुःखोंसे छूटकर मनुष्य भगवत्कृपासे अपनी इसी आयुमें अखण्ड और पूर्ण सुखकी प्राप्ति कर सकता है। इच्छा, विश्वास और तत्परता होनी चाहिये।

नैतिक पतन और उससे बचनेके उपाय

भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमद्भगवद्गीताके सोलहवें अध्यायमें आसुरी सम्पत्तिके स्वरूप, लक्षण तथा परिणामका विशद वर्णन करते हुए अन्तमें कहा—

> त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
> कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥
> (१६। २१)

'काम, क्रोध और लोभ—ये तीन प्रकारके नरकके द्वार हैं और आत्माका नाश करनेवाले हैं। इसलिये इन तीनोंका त्याग करना चाहिये।'

पर हमारा बड़ा दुर्भाग्य है कि यही तीनों आज हमारे जीवनके अवलम्बन-से हो रहे हैं। कोई भी क्षेत्र इनके बुरे प्रभावसे अछूता नहीं बचा है। इन्हींके कारण आज सारा समाज बड़ी तेजीसे पतनकी

ओर जा रहा है। इसीलिये इतनी अशान्ति, कलह, दुःख और पीड़ा है।

प्रथम तो वर्तमान सरकारने प्रजापर इतने अधिक कर लगा दिये हैं कि उनके बोझसे सब दब गये हैं और किसी भी उपायसे उस कर-भारसे बचना चाहते हैं। कुछ वर्षों पहलेकी बात है—एक बड़े व्यापारी सज्जनने कहा था कि "हमलोग शौकसे झूठ-कपट नहीं कर रहे हैं। इतना भारी कर लगा है कि उसे यदि पूरा चुकाने जायँ तो खर्च जोड़कर अमुक प्रतिशत उलटा घाटा रहता है। यह तो वैसी ही बात है जैसे कोई डाकू घरबार लूटनेके लिये सदल-बल घरमें आ घुसा हो और उसका सामना करके बचनेकी आशा न हो; तब जैसे उससे बचानेके लिये घरका धन, जेवर-जवाहरात आदि छिपा लिया जाता है और उससे विनयपूर्वक असत्य कहा जाता है कि 'हमारे घरमें तो कुछ है ही नहीं, देख लो।' ठीक वैसे ही इस अन्यायपूर्ण करसे बचनेके लिये हमलोगोंको मिथ्याका आश्रय लेना पड़ता है।" यद्यपि उनकी इस युक्तिका पूर्ण समर्थन नहीं किया जा सकता। किसी भी स्थितिमें छल, कपट और चोरीका समर्थन आस्तिक तथा धर्मभीरु पुरुषके लिये इष्ट नहीं है। इधर तो आय-करमें कुछ कमी भी हुई है। तथापि यह बात ऐसी नहीं है जो बिल्कुल उड़ा दी जाय। आजकल जिस प्रकारसे नये-नये कर लगाये जा रहे हैं, हर एक बातमें प्रजाको पराधीन बनाया जा रहा है, खुला व्यापार मानो रहा ही नहीं। ऐसी अवस्थामें छिपाकर धन कमाने और रखनेकी प्रवृत्ति होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। सचमुच आजके नैतिक पतनमें यह भयानक कर-भार भी एक प्रधान कारण है।

दूसरा कारण है—नियन्त्रण या कंट्रोल। महात्मा गाँधीजीने इसकी बुराइयोंको समझा था और वे रहते तो अबतक यह नियन्त्रण-की विशाल माया-नगरी कभीकी उजड़ गयी होती। नियन्त्रणकी बुराइयोंको अधिकारी लोगोंमेंसे अधिकांश जानते हैं; परंतु नियन्त्रण बने रहनेमें ही सबका स्वार्थ है, इसलिये विविध युक्तियोंसे नियन्त्रणकी आवश्यकता बतलायी जाती है। यद्यपि हम उन बातोंको प्रमाणित नहीं कर सकते पर हमें अच्छी तरह ज्ञात है कि नियन्त्रणके कारण ही चोर-बाजारी अधिक होती है। इस विभागके बहुतसे उच्च अफसर तथा इन्सपेक्टर आदि अपनेको प्रलोभनसे नहीं बचा सकते और वे उचित-अनुचित सभी तरीकोंसे व्यापारियोंसे रुपये लेते हैं। फलतः व्यापारियों-को चोरबाजारी करनेमें उत्साह और सुविधा मिल जाती है और कहीं-कहीं तो उन्हें (उनके कथनानुसार) आवश्यकता भी प्रतीत होने लगती है; क्योंकि ऐसा किये बिना वे उन अधिकारियोंकी माँग पूरी नहीं कर पाते। कई जगह तो व्यापारियोंसे इन लोगोंकी नियत मासिक रकम बँधी होती है। कई जगह अमुक प्रतिशत देना पड़ता है। इसके अतिरिक्त अन्य भी अनेकों प्रकारसे व्यापारी और अधिकारी मिलकर यह पाप करते हैं। अब तो इन्हें इसका ऐसा चसका लग गया है जो किसी भी कानूनसे रुकना बड़ा कठिन है।

मनुष्य जबतक पापको पाप समझता है, तबतक वह पापसे डरता है। कभी परिस्थिति या किसी लोभविशेषके कारण वह पाप कर भी लेता है तो पीछे पश्चात्ताप करता है। पर जब पापसे घृणा हट जाती है और उसमें बुद्धिमानी तथा गौरवका बोध होने लगता

है—पापमें पुण्यबुद्धि हो जाती है, तब पापसे बचना बहुत ही कठिन हो जाता है। फिर तो पापके नित्य नये-नये तरीके निकलते रहते हैं। इस प्रकार पापको पुण्य, अधर्मको धर्म या अन्यायको न्याय मानते-मानते बुद्धि इतनी तमसाच्छन्न हो जाती है कि फिर सभी चीजें उसे उलटी दीखने लगती हैं—'सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी' (गीता १८। ३२)। ऐसा कामोपभोगपरायण लोभग्रस्त तामस मनुष्य या समाज क्रमशः मानवताको खोकर दानव या असुर बन जाता है, फिर ऐसा कोई भी जघन्य कार्य नहीं जो वह नहीं कर सकता और समाजमें जब प्रमुख माने जानेवाले लोग इस प्रकारके बन जाते हैं, तब दूसरे लोग भी उन्हींका अनुसरण करने लगते हैं और समाजमें उनको कोई बुरा नहीं कहता। खुले चोर और डाकुओं-को समाज बुरा बतलाता है और उनसे घृणा करता है, जो उचित ही है। पर ये छिपे चोर और डाकू—जो खुले चोर-डाकुओंसे कहीं भयानक और समाजका अधःपात करनेवाले हैं—क्योंकि वे चोर-डाकू तो कभी-कभी चोरी-डकैती करते हैं पर ये तो दिन-रात व्यापार और अधिकारकी आड़में भयानक-से-भयानक दुष्कर्म करते रहते हैं और समाजमें श्रेष्ठ होनेके कारण दूसरे लोगोंमें भी वैसे ही करनेकी प्रवृत्ति पैदा करते हैं—समाजमें प्रतिष्ठा और उच्च पद प्राप्त करते हैं।

आज हमारी प्रायः ऐसी ही दशा हो रही है। समाजमें आज उसीका मान और आदर है जो धन कमा लेता है, फिर वह चाहे किसी भी बुरे-से-बुरे साधनसे कमाता हो। एक ऊँचे अफसरने एक बार कहा था कि 'मैं रिश्वत नहीं लेता, इससे मेरे ऊपर तथा नीचेके अधिकारी मुझको मूर्ख तो मानते ही हैं, अपने मार्गका काँटा समझते

हैं और ऐसा प्रयत्न करते हैं कि मैं किसी प्रकार दोषी साबित होकर यहाँसे निकाल दिया जाऊँ।' एकाधिक ऐसे अफसरोंको हम जानते हैं, जो रिश्वत न खानेके कारण अपने ऊपरके अफसरोंको खुश नहीं रख सके और इसी कारण उनपर कई प्रकारकी विपत्तियाँ आयीं। उनकी उन्नति रुक गयी, उन्हें मुअत्तिल किया गया, उनको अपने स्तरसे नीचे गिराया गया तथा उनपर कई तरहके अपराध लगाये गये और हजार प्रयत्न करनेपर भी उनका कष्ट दूर नहीं हुआ। वे मूर्ख और विक्षिप्त तो कहलाये ही, शरारती भी कहलाये।

इसी प्रकार व्यापारी-जगत्में भी जो सचाईसे काम करता है, छल-कौशलसे अनाप-शनाप पैसा नहीं कमा सकता, उसे बन्धु-बान्धव तथा आसपासके लोग मूर्ख बतलाते हैं और विद्वान् बुद्धिमान् होनेपर भी उस बेचारेको अपनी निन्दा सुननी पड़ती है तथा पाँच आदमियोंमें झेंपना पड़ता है। यह दोष यहाँतक गहरा चला गया है कि जो लोग गीता-रामायण पढ़ते हैं, अपनेको ज्ञानी या भक्त मानते हैं, जो धर्मात्मा, उदार और दानशील माने जाते हैं तथा जो प्रसिद्ध देशभक्त, समाज-सेवक और नेता समझे जाते हैं, वे लोग भी इस महान् दोषको दोष नहीं मानते और जीवन-यापनके लिये मानो आवश्यक मानकर इसे खुशीसे अपनाते हैं।

ईश्वर, परलोक तथा पापका डर तो शास्त्रोंमें अश्रद्धा होनेसे चला गया। समाजका डर भी जाता रहा; क्योंकि प्रायः समाजभरमें यह पाप फैल गया, अतः कौन किसको बुरा कहे। बचा कानून, सो उसका डर भी अब प्रायः नहीं रहा; क्योंकि मेल-मिलापसे वह

भी दूर हो जाता है। क्या कहा जाय। दिनोंदिन बुराइयाँ बढ़ती जा रही हैं और इस ओर प्रायः बहुत ही कम लोगोंका ध्यान है। तथा जिनका ध्यान है वे कुछ कर नहीं सकते या करनेमें प्रमाद करते हैं। इस प्रकार पापमें गौरवबुद्धि हो जानेके कारण क्या-क्या होने लगा है, इसपर जरा विचार कीजिये—

(१) रिश्वतखोरी उत्तरोत्तर बढ़ती ही जा रही है, अवश्य ही उसके रूप और ढंग बदलते रहते हैं।

(२) डरा-धमकाकर, पकड़नेकी धमकी देकर या पकड़कर भी रुपये वसूल किये जाते हैं। पकड़ा-धकड़ी जितनी अपराध मिटानेके लिये नहीं होती, उतनी अपने स्वार्थसाधनके लिये होती है। यथार्थ तथा बड़े अपराधी कम पकड़े जाते हैं। बड़े अपराधियों-पर आतङ्क जमानेके लिये छोटे ही अधिक शिकार होते हैं।

(३) व्यापारी लोग करसे बचने तथा भाँति-भाँतिकी अनीति-को छिपानेके लिये रिश्वत देते तथा झूठे बहीखाते बनाते हैं।

(४) भारतके बाहरसे आनेवाली और बाहर भेजी जानेवाली चीजोंपर जो समय-समयपर प्रतिबन्ध लगाये तथा उठाये जाते हैं, उसमें कई बार तो ऐसे छिपे कारण होते हैं, जो सर्वथा अनीतिपूर्ण हैं। कुछ बड़े व्यापारियोंको सप्ताहों पहले इसका पता लग जाता है कि अमुक तारीखको अमुक वस्तुपर प्रतिबन्ध लगेगा या उठेगा। वरं यह कहना भी अत्युक्ति न होगा कि कभी-कभी तो किसी एक या अधिक व्यापारियोंके लिये ही प्रतिबन्ध लगता या उठता है। और वे प्रतिबन्ध लगने या उठनेकी नियत तारीखसे पहले-पहले ही

उक्त चीज प्रचुर मात्रामें खरीद या बेच लेते हैं। फिर अकस्मात् घोषणा हो जाती है, जिससे बाजारमें उथल-पुथल मच जाती है। फलतः वे व्यापारी लाखों-करोड़ोंका अनुचित लाभ उठाते हैं और बेचारे अनजान हजारों छोटे व्यापारी मारे जाते हैं! इस चीजको हम प्रमाणित नहीं कर सकते, पर वे अधिकारी और व्यापारी अपनी-अपनी छातीपर हाथ रखकर इसकी सचाईको जान सकते हैं। भगवान् तो जानते ही हैं।

(५) नीच स्वार्थ और लोभके वश होकर लोग, जहाँ सम्भव होता है, बिना किसी हिचकके असली चीजोंके साथ नकली चीजें मिला देते हैं, यहाँतक कि नकली चीजोंको ही असली बताकर बेचते हैं। आटेमें इमलीके बीजोंका चूर्ण बहुत मिलाया जाता है। घीमें तो जमाया हुआ (वनस्पति) तैल मिलाया ही जाता है। कहीं-कहीं लोग चर्बीतक मिलाते हैं। पिछले दिनों सरसोंके साथ भटकटैयाके बीज मिलाकर तेल पेरा गया था, जिससे हजारों आदमी बेरी-बेरी रोगसे पीड़ित हो गये थे। इसी प्रकार चावल, दाल, चीनी आदिमें भी मिलावट होती है। पथ्यके लिये रोगियोंको शुद्ध सागूदाना तक नहीं मिलता। शीशियोंपर झूठे लेबल चिपकाकर नकली दवाइयाँ बेची जाती हैं। ऐसे खाद्य-पदार्थ और ओषधियोंका सेवन करके चाहे कितने ही लोग मर जायँ, कमानेवालोंको इसकी परवा नहीं है, वे तो इसको व्यापारका एक अङ्ग मानते हैं।

(६) अच्छा नमूना दिखलाकर घटिया माल देना, तौलमें कम देना या अधिक ले लेना, रूई या पाटको जलसे भिगोकर उनका

वजन बढ़ा देना, बाजार तेज हो जानेपर बेचे हुए मालको देनेसे इनकार कर जाना और मंदा होनेपर खरीदा हुआ माल न लेना—आदि बातें तो आज व्यापारकी चतुराई समझी जाने लगी हैं। उच्च सम्मानप्राप्त बड़े-बड़े उद्योगपति तथा व्यापारी इनको गौरवके साथ करते हैं।

(७) धर्म और ईश्वरके नामपर भोले-भाले नर-नारियोंको ठगने और उनका धन, शील आदि अपहरण करनेकी प्रवृत्ति बढ़ रही है। कई लोग तो अपनेको भगवान् कहकर पुजवाते हैं।

(८) शिक्षाविभाग और डाक-तार विभागतकमें रिश्वत चलने लगी है और न देनेपर काम बिगड़ जाता है। कोर्ट और रेलवे आदिमें तो माँग-माँगकर ली-दी जाती है।

(९) राजनीतिक क्षेत्रमें बढ़ती हुई दलबंदियाँ, एक दूसरेको नीचा दिखानेका प्रयत्न, दूसरेको गिराकर अपनेको ऊपर उठानेकी कोशिश; परनिन्दामें, दूसरेकी अवनतिमें और दुःखमें सुखका अनुभव, लूट-मार, दूसरोंको व्यर्थ हानि पहुँचानेकी इच्छा, हिंसा तथा क्रोधमें गौरव-बुद्धि, दलोंका बाहुल्य, धार्मिक क्षेत्रका पारस्परिक विद्वेष और स्वेच्छाचार आदि अनर्थ दिनोंदिन बढ़ते ही जा रहे हैं।

(१०) सीनेमा, रेडियो तथा गंदे साहित्यके द्वारा जनतामें कामवासनाकी वृद्धि हो रही है और फलतः उच्छृङ्खलता तथा चारित्रिक पतन बढ़ रहा है। भले-भले घरोंके पुरुष और स्त्रियोंमें बड़ी तेजीसे चरित्रका नाश हो रहा है और इस चरित्रनाशमें कहीं-कहीं तो गौरवका अनुभव किया जा रहा है।

(११) विद्यार्थी-जगत्‌में उच्छृङ्खलता बढ़ रही है। शिक्षकों और विद्यार्थियोंके सम्बन्ध अत्यन्त अवाञ्छनीय हो रहे हैं। गुरु-शिष्यकी पवित्र मर्यादा प्रायः नष्ट हो गयी है और परस्पर प्रतिद्वन्द्विता तथा द्वेषके भाव बढ़ रहे हैं। चरित्र-नाश भी बड़ी तेजीसे हो रहा है।

(१२) तरुणी कुमारियों और नवयुवकोंकी सहशिक्षासे भी चरित्रकी पवित्रताका बड़ा ह्रास और नाश हुआ है तथा उत्तरोत्तर अधिक हो रहा है। कहाँ तो जगज्जननी सीताजीने पुत्रके समान सेवक ब्रह्मचारी हनुमान्‌जीका स्पर्श करना अस्वीकार कर दिया था और कहाँ आज अबाध संसर्गको प्रोत्साहन दिया जा रहा है, सो भी शिक्षाके पवित्र नामपर !

(१३) खान-पानमें हर किसीका जूँठा खानेकी प्रवृत्ति बढ़ रही है और इससे सुधार बताया जा रहा है ! रेलोंमें, होटलोंमें और घरोंमें भी काँच तथा चीनी-मिट्टीके बर्तनोंका प्रचार, जूते पहने हुए ही भोजन करना, किसी भी जातिके और कैसे भी गंदे रहनेवाले आदमीके हाथोंसे खाना, जूँठे हाथों जूँठी चम्मचसे खानेकी सामग्री लेना, एक ही बर्तनमें रक्खे हुए फल-मेवा-पान आदि पदार्थोंको बहुतसे लोगोंका मुँहमें हाथ या अँगुली देकर खाना, एक ही थाली या पत्तलमें बहुतोंका साथ खाना, जूँठे बर्तनोंमें ही चाय, सोडा, जल आदि पीना, बर्तनोंको केवल धो भर लेना, मांस-मदिरासे भी परहेज न करना, अंडोंका भोजनके रूपमें प्रयोग करना, खाकर हाथ-मुँह न धोना, कुल्ले न करना और चलते-चलते खाना

आदि ऐसी बातें हैं जिनसे पवित्रताका नाश तो होता ही है, तरह-तरहकी बीमारियाँ भी फैलती हैं !

भ्रष्टाचार और अनाचारके ये थोड़े-से उदाहरण दिये गये हैं । न मालूम ऐसे कितने शारीरिक, वाचनिक और मानसिक दोष हमारे अंदर आज आ गये हैं । इन सबका कारण है—घोर विषयासक्ति और तज्जनित काम, क्रोध तथा लोभका आश्रय । भगवान् और धर्मको भूल जानेपर मनुष्य असंयमी तथा यथेच्छाचारी होकर पतित हो जाता है और भ्रमवश उस पतनको ही उत्थान मानने लगता है ! आज हमारे समाजकी यही दशा हो रही है । इस पतनके प्रबल प्रवाहको शीघ्र ही न रोका गया तो पता नहीं यह हमें कहाँ ले जायगा !

इसको रोकनेके उपाय हैं—धर्म तथा भगवान्में श्रद्धा उत्पन्न करना, भगवान्से प्रार्थना करना, परलोक और पुनर्जन्ममें विश्वास बढ़ाना, सद्ग्रन्थोंका प्रचार करना, त्याग तथा प्रेमकी पवित्र भावनाएँ फैलाना, संयमका महत्त्व समझना, अहिंसा और सत्यका क्रियात्मक प्रसार करना, स्वार्थबुद्धिका नाश हो ऐसी शिक्षा देना, स्वयं निःस्वार्थभावसे सबकी सेवा करके आदर्श उपस्थित करना, स्कूल-कालेजोंमें धार्मिक शिक्षाका अनिवार्य करना तथा वैराग्य और सच्ची भावनासे विषयासक्तिका नाश करना । इनमेंसे जिनसे, जिस क्षेत्रमें, जितना कुछ हो सके, वही सचाईके साथ भगवान्पर विश्वास रखकर करना चाहिये ।

महापापीके उद्धारका परम साधन

प्रश्न—'मैं बड़ा ही पापी हूँ। जीवनभर मैंने पाप किये हैं। परधन-हरण, व्यभिचार, हिंसा, ब्राह्मण-साधुओंका अपमान, माता-पिताको कष्ट देना और सबसे वैर करना आदि कोई भी ऐसा पाप नहीं, जो मैंने बड़े चावसे चित्त लगाकर न किया हो। इस प्रकारके पाप ही मेरे जीवनके मुख्य काम रहे हैं। मैं ऊपरसे बड़ा भक्त बना रहता था, लोगोंको उपदेश करता था, पर अंदर-ही-अंदर पापोंकी बात सोचता और करता था। अब भी पापोंसे छूट नहीं पाया हूँ। मुझे अपनी करतूतोंपर बड़ा पछतावा है। मैं नरकोंके भयसे सदा काँपता रहता हूँ। घुल-घुलकर हृदयसे रोता हूँ कि हे भगवन्! मेरा निस्तार कैसे होगा? मुझ नीचको कौन अपनायेगा? हाय! क्या मेरे लिये कोई उपाय नहीं है? क्या मैं प्रभुकी कृपा और उनके प्रेमको प्राप्त कर ही नहीं सकता? कोई उपाय हो तो बतलाइये!'

उत्तर—'उपाय क्यों नहीं है? ऐसा कौन जीव है जिसके लिये प्रभुकी कृपाका द्वार बंद हो? प्रभु ही यदि पापीको नहीं अपनायेंगे तो कौन अपनायेगा? वे पतितपावन हैं, बड़े ही दयालु हैं। तुम भैया! घबराओ नहीं। तुमपर तो उनकी कृपा बरसने लगी है— तभी तो तुम्हें अपनी करतूतोंपर पछतावा हो रहा है, तभी तो तुम

नरकके भयसे काँपते, निस्तारके लिये रोते और प्रभुकृपा तथा प्रभु-प्रेमको प्राप्त करनेके उपाय पूछते हो ? जिस कृपाने तुम्हें ऐसी वृत्ति दी है, वही कृपा तुम्हारा निस्तार करेगी, वही तुम्हें भगवान्‌से भी मिला देगी ! उस कृपापर विश्वास करो। मनमें निश्चय कर लो कि एकमात्र भगवान् ही ऐसे परम दयालु हैं, जो पापियोंको अपनाते हैं। स्नेहमयी माता जैसे अपने बच्चेकी गंदगी अपने हाथों साफ करती है, वैसे ही भगवान् अपने ही हाथों अपने जनके महापापोंका नाश करके उसे अपने हृदयसे लगा लेने योग्य पवित्र बना लेते हैं और बड़े हर्षसे हृदयसे लगा लेते हैं ! भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, सर्वेश्वर हैं, उनकी कृपासे पापोंका समूल नाश हो जायगा, उनकी भक्ति प्राप्त होगी और उनकी सेवाका अधिकार मिल जायगा। 'बस, एक वे ही ऐसे हैं, वे ही मेरे परम आश्रय हैं, वे ही मेरे एकमात्र रक्षक हैं, उनके सिवा मुझे कहीं भी ठौर नहीं।' इस प्रकार निश्चय करके उनके भजनमें लग जाओ, फिर देखते-ही-देखते तुम्हारा तमाम कायापलट हो जायगा। तुम महान् साधु और भगवान्‌के अनन्य भक्त बन जाओगे। एक तुम्हीं क्यों, सच पूछो तो इस घोर कलियुगमें आज ऐसे कितने लोग हैं जो कुसङ्गमें पड़कर मनको मथ डालनेवाली प्रबल इन्द्रियोंके गुलाम होकर भी पाप-पथसे बिल्कुल बचे हों ? ऐसे कितने लोग हैं जिन्होंने जवानीकी गधापचीसीमें बुरे काम न किये हों और जिनका जीवन आदिसे अन्ततक निष्पाप, सर्वथा शुद्ध और परम पावन रहा हो ? जिनका जीवन ऐसा पवित्र है, वे निश्चय ही परम पूज्य हैं, उनके चरण-रजकणको प्राप्त करनेवाला भी पावन हो सकता है। परंतु ऐसे लोग विरले ही हैं। अधिकांश जनसंख्या तो आज ऐसी

ही है, जो पापके कीचड़में फँसी है। ऊपरसे भले ही साफ मालूम हो। ऐसी दशामें उन लोगोंको अवश्य ही भाग्यवान् और भगवान्के बड़े कृपापात्र समझना चाहिये, जो अपने बुरे कर्मोंके लिये पश्चात्ताप करते हैं, उनसे छूटनेका प्रयास करते हैं और भगवान्की कृपा तथा प्रेमकी प्राप्तिके लिये व्याकुल हो उठते हैं। दयालु भगवान् यही तो चाहते हैं। उनकी कृपा-सुधा-वृष्टिकी प्राप्तिके लिये इतना ही पर्याप्त है। पापोंका सच्चा प्रायश्चित्त हृदयके पश्चात्तापमें है और भगवान्की उस कातर प्रार्थनामें है—जिसमें अपनी बेबसीका सच्चा हाल बतलाकर भगवान्से कृपादान करनेके लिये रोया जाता है!

तुम पश्चात्ताप करो, रोओ, भगवान्से क्षमा-प्रार्थना करो और सबसे आवश्यक बात है, भगवान्की कृपापर विश्वास करके, एकमात्र उन्हींको अपना परम रक्षक, सच्चा स्वामी, परम बन्धु, परम धन, परम इष्ट और परम आश्रय मानकर उनके भजनमें लग जाओ। बीत गयी सो बीत गयी; जो बुरे-भले कर्म बन गये सो बन गये। अब जितनी उम्र बाकी है, उसे भगवान्को सौंप दो। प्रत्येक श्वासमें उनका नाम जपो, उनका पावन स्मरण करो, प्रत्येक कार्य उनकी पूजाके लिये करो। फिर वे अपने-आप ही तुम्हें अपना लेंगे। देर नहीं होगी। देखते-ही-देखते तुम महान् पवित्र और उनके परम प्रेमी बन जाओगे। उनकी प्रतिज्ञाको याद करो—

श्रीभगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥
(गीता ९ । ३०-३१)

'यदि कोई अत्यन्त पापी भी अनन्यभाक् होकर (एकमात्र मुझको ही अपना रक्षक, स्वामी, आश्रय और परम इष्टदेव मानकर) मुझको भजता है (मेरे शरण होकर मेरे ही परायण होकर परम दृढ़ विश्वासके साथ हृदयकी निर्भरताके साथ मुझको पुकारता है) वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है (उसने दृढ़रूपसे यही निश्चय कर लिया है कि एकमात्र परम शरण्य श्रीभगवान्‌के भजनके सिवा अब मुझे और कुछ भी नहीं करना है) ऐसे निश्चयवाला वह बहुत शीघ्र (देखते-ही-देखते) धर्मात्मा बन जाता है और नित्य रहनेवाली (भगवत्-प्राप्तिरूप) परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है । हे अर्जुन ! तू निश्चयपूर्वक सत्य समझ कि मेरा (पापकर्मसे सर्वथा न छूटा हुआ भी उपर्युक्त प्रकारसे मुझको ही एकमात्र परम आश्रय और परम रक्षक मानकर मेरा भजन करनेवाला) भक्त कभी नष्ट नहीं होता (अर्थात् कल्याणके मार्गसे कभी नहीं गिरता—वह मेरी कृपासे सर्वथा निष्पाप बनकर और मेरेद्वारा सुरक्षित होकर शीघ्र ही मुझको प्राप्त हो जाता है) ।'

भगवान्‌की इस अमर आश्वासन-वाणीपर विश्वास करो और अपनेको उनके चरणोंपर डालकर निश्चिन्त हो जाओ । यही परम साधन है, जो बड़े-से-बड़े पापीका क्षणोंमें उद्धार कर देता है ।

चातककी प्रेम-साधना

जौं घन बरषै समय सिर जौं भरि जनम उदास।
तुलसी या चित चातकहि तऊ तिहारी आस॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि हे रामरूपी मेघ! चाहे तुम ठीक समयपर बरसो (कृपाकी वृष्टि करो), चाहे जन्मभर उदासीन रहो—कभी न बरसो; परंतु इस चित्तरूपी चातकको तो तुम्हारी ही आशा है।

चातक तुलसी के मतें स्वातिहुँ पिऐ न पानि।
प्रेम तृषा बाढ़ति भली घटें घटैगी आनि॥

हे चातक! तुलसीदासके मतसे तो तू स्वातिनक्षत्रमें बरसा हुआ जल भी न पीना; क्योंकि प्रेमकी प्यासका बढ़ते रहना ही अच्छा है, घटनेसे तो प्रेमकी प्रतिष्ठा ही घट जायगी।

रटत रटत रसना लटी तृषा सूखि गे अंग।
तुलसी चातक प्रेम को नित नूतन रुचि रंग॥

अपने प्यारे मेघका नाम रटते-रटते चातककी जीभ लट गयी और प्यासके मारे सब अङ्ग सूख गये। तुलसीदासजी कहते हैं कि तो भी चातकके प्रेमका रंग तो नित्य नया और सुन्दर ही होता जाता है।

चढ़त न चातक चित कबहुँ प्रिय पयोद के दोष।
तुलसी प्रेम पयोधि की ताते नाप न जोख॥

चातकके चित्तमें अपने प्रियतम मेघके दोष कभी आते ही नहीं। तुलसीदासजी कहते हैं—इसीलिये प्रेमके अथाह समुद्रका कोई माप-तोल नहीं हो सकता (उसकी थाह नहीं लगायी जा सकती)।

बरषि परुष पाहन पयद पंख करौ टुक टूक।
तुलसी परी न चाहिऐ चतुर चातकहि चूक॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि बादल कठोर ओले बरसाकर भले ही चातककी पाँखोंके टुकड़े-टुकड़े कर दे, पर प्रेमके प्रणमें चतुर चातकको अपने प्रेमका प्रण निबाहनेमें कभी भूल नहीं करनी चाहिये।

उपल बरषि गरजत तरजि डारत कुलिस कठोर।
चितव कि चातक मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर॥

मेघ कड़क-कड़ककर गरजता हुआ ओले बरसाता है और कठोर बिजली भी गिरा देता है; इतनेपर भी प्रेमी पपीहा मेघको छोड़कर क्या कभी दूसरी ओर ताकता है ?

पबि पाहन दामिनि गरज झरि झकोर खरि खीझि।
रोष न प्रीतम दोष लखि तुलसी रागहि रीझि॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि मेघ बिजली गिराकर, ओले बरसाकर, बिजली चमकाकर, कड़क-कड़ककर, वर्षाकी झड़ी लगाकर और आँधीके झकोरे देकर अपना बड़ा भारी रोष प्रकट करता है; परंतु चातकको अपने प्रियतमका दोष देखकर क्रोध नहीं होता (उसे दोष दीखता ही नहीं), बल्कि इसमें भी वह अपने प्रति मेघका अनुराग देखकर उसपर रीझ जाता है।

मान राखिबो माँगिबो पिय सों नित नव नेहु।
तुलसी तीनिउ तब फबैं जौं चातक मत लेहु॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि आत्मसम्मानकी रक्षा करना, माँगना और फिर भी प्रियतमसे प्रेमका नित्य नवीन होना (बढ़ना)—ये तीनों बातें तभी शोभा देती हैं, जब चातकके मतका अनुसरण किया जाय।

तुलसी चातक ही फबै मान राखिबो प्रेम।
बक्र बुंद लखि स्वातिहू निदरि निबाहत नेम॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि प्रेमके मानकी रक्षा करना और प्रेमको भी निबाहना चातकको ही शोभा देता है। स्वाती-नक्षत्रमें भी यदि बूँद [मेघकी ओर निहारते हुए उसके मुखमें सीधी न पड़कर] टेढ़ी पड़ती है तो वह उसका निरादर करके प्रेमके नियमको निबाहता है। (चोंचको टेढ़ी करनेमें दूसरी ओर ताकना हो जायगा और इससे उसके प्रेममें व्यभिचार होगा, इसलिये वह प्यासा रह जाता है, परंतु मुँह टेढ़ा नहीं करता। दूसरी बात यह है कि वह टेढ़ी चोंच करके पीता है तो उसका मान घटता है। वह भिखमंगा नहीं है, प्रेमी है; देना हो तो सीधे दो, नहीं तो न सही।)

तुलसी चातक माँगनो एक एक घन दानि।
देत जो भू भाजन भरत लेत जो घूँटक पानि॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि चातक एक ही (अद्वितीय) माँगनेवाला है और बादल भी एक ही (अद्वितीय) दानी है।

बादल इतना देता है कि पृथ्वीके सब बर्तन (झील, तालाब आदि) भर जाते हैं, परंतु चातक केवल एक घूँट ही पानी लेता है ।

तीनि लोक तिहुँ काल जस चातक ही कें माथ ।
तुलसी जासु न दीनता सुनी दूसरे नाथ ॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि तीनों लोकोंमें और तीनों कालोंमें कीर्ति तो केवल अनन्यप्रेमी चातकके ही भाग्यमें है, जिसकी दीनता संसारमें किसी भी दूसरे स्वामीने नहीं सुन पायी ।

प्रीति पपीहा पयद की प्रगट नई पहिचानि ।
जाचक जगत कनाउड़ो कियो कनौड़ो दानि ॥

पपीहा और मेघके प्रेमका परिचय प्रत्यक्ष ही नये ही ढंगका है; याचक (मँगता) तो संसारभरका ऋणी होता है, परंतु इस प्रेमी पपीहेने दानी मेघको अपना ऋणी बना डाला ।

नहिं जाचत नहिं संग्रही सीस नाइ नहिं लेइ ।
ऐसे मानी मागनेहि को बारिद बिन देइ ॥

पपीहा न तो मुँहसे माँगता है, न जलका संग्रह करता है और न सिर झुकाकर लेता ही है (ऊँचा सिर किये ही 'पिउ' 'पिउ' की टेर लगाया करता है) । ऐसे मानी माँगनेवाले चातकको मेघके अतिरिक्त और कौन दे सकता है ?

को को न ज्यायो जगत में जीवन दायक दानि ।
भयो कनौड़ो जाचकहि पयद प्रेम पहिचानि ॥

जगत्में इस जीवनदाता दानी मेघने किस-किसको नहीं जिलाया ? परंतु अपने प्रेमी याचक चातकके प्रेमको पहचानकर तो यह मेघ उल्टा स्वयं उसीका ऋणी हो गया ।

साधन साँसति सब सहत सबहिं सुखद फल लाहु।
तुलसी चातक जलद की रीझि बूझि बुध काहु॥

साधनमें सभी कष्ट सहते हैं और फलकी प्राप्ति सभीके लिये सुखदायिनी होती है; परंतु तुलसीदासजी कहते हैं कि चातककी-सी रीझ (प्रेम) और मेघकी-सी बुद्धि किसी बिरले ही बुद्धिमान्‌की होती है। (चातक मेघपर इतना रीझा रहता है कि कष्ट सहनेपर भी उससे प्रेम बढ़ाता ही है और मेघकी ऐसी बुद्धि—गुणज्ञता है कि वह दाता होकर भी ऋणी बन जाता है।)

चातक जीवन दायकहि जीवन समयँ सुरीति।
तुलसी अलख न लखि परै चातक प्रीति प्रतीति॥

चातकके जीवनदाता मेघके प्रेमकी सुन्दर रीति तो उसके जीवनकालमें ही देखनेमें आती है; परंतु [अनन्य प्रेमी] चातकका प्रेम एवं विश्वास तो अलख (अज्ञेय) है। तुलसीदासजी कहते हैं कि वह तो किसीके लखनेमें ही नहीं आता (अर्थात् उसका प्रेम तो मरते समय भी बना रहता है)।

जीव चराचर जहँ लगें है सब को हित मेह।
तुलसी चातक मन बस्यो घन सों सहज सनेह॥

संसारमें जितने चर-अचर जीव हैं, मेघ उन सभीका हितकारी है; परंतु तुलसीदासजी कहते हैं कि उस मेघके प्रति स्वाभाविक स्नेह तो एक चातकके ही चित्तमें बसा हुआ है।

डोलत बिपुल बिहंग बन पिअत पोखरिन बारि।
सुजस धवल चातक नवल तुही भुवन दस चारि॥

वनमें बहुत-से पक्षी डोलते हैं और वे पोखरियोंका जल पिया करते हैं; परंतु हे नित्य नवीन प्रेमी चातक ! चौदहों लोकोंको अपने निर्मल यशसे उज्ज्वल तो एक तू ही करता है ।

मुख मीठे मानस मलिन कोकिल मोर चकोर ।
सुजस धवल चातक नवल रह्यो भुवन भरि तोर ॥

कोयल, मोर और चकोर मुँहके तो मीठे होते हैं, परंतु मनके बड़े मैले होते हैं (बोली तो बड़ी मीठी बोलते हैं, पर कीट-सर्पादि जीवोंको खा जाते हैं) । परंतु हे नवल चातक ! विश्वभरमें उज्ज्वल यश तो तेरा ही छाया हुआ है ।

बास बेष बोलनि चलनि मानस मंजु मराल ।
तुलसी चातक प्रेम की कीरति बिसद बिसाल ॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि हंसका निवासस्थान (मानसरोवर), वेष (रंग-रूप), बोली, चाल और [नीर-क्षीरका विवेक रखनेवाला तथा मोती चुगनेकी टेकवाला] मन—सभी सुन्दर हैं; परंतु प्रेमकी कीर्ति तो सबसे बढ़कर विस्तृत और निर्मल चातककी ही है ।

प्रेम न परखिअ परुषपन पयद सिखावन एह ।
जग कह चातक पातकी ऊसर बरसै मेह ॥

संसारके लोग (विषयीजन) कहते हैं कि चातक पापी है, क्योंकि मेघ ऊसर तकमें बरसता है [परंतु चातकके मुँहमें नहीं बरसता]; पर मेघ इससे यह शिक्षा देता है कि प्रेमकी परीक्षा कठोरतासे नहीं करनी चाहिये (अर्थात् कठोरतामें प्रेम नहीं है, ऐसा नहीं मानना चाहिये; कहीं-कहीं कठोरतामें भी प्रेमका प्रकाश

होता है। चातक पापी नहीं है, महान् प्रेमी है; उसके प्रेमका यश मेघकी कठोरतासे बढ़ता है)।

होइ न चातक पातकी जीवन दानि न मूढ़।
तुलसी गति प्रह्लाद की समुझि प्रेम पथ गूढ़॥

न तो चातक ही पापी है और न जीवनदाता मेघ ही मूर्ख है। तुलसीदासजी कहते हैं कि प्रह्लादकी दशापर विचार करके समझो कि प्रेमका मार्ग कितना गूढ़ (सूक्ष्म) है। (प्रह्लादको पद-पदपर कष्ट मिलता है और भगवान् उसके कष्टको जानते हुए भी बहुत विलम्बसे प्रकट होते हैं। वह उनकी प्रेमलीला ही है।)

गरज आपनी सबन को गरज करत उर आनि।
तुलसी चातक चतुर भो जाचक जानि सुदानि॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि अपनी-अपनी गरज सभीको होती है और उसी गरजको (कामनाको) हृदयमें रखकर लोग जहाँ-तहाँ गरज करते (सबसे विनती करते) फिरते हैं। परंतु चतुर (अनन्य प्रेमी) चातक तो एक मेघको ही सर्वोत्तम दानी समझकर केवल उसीका याचक बना।

चरग चंगु गत चातकहि नेम प्रेम की पीर।
तुलसी परबस हाड़ पर परिहैं पुहुमी नीर॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि बाजके पंजेमें फँसनेपर चातकको अपने प्रेमके नियमकी पीड़ा (चिन्ता) होती है। [उसे यह चिन्ता नहीं होती है कि मैं मर जाऊँगा, पर इस बातकी बड़ी पीड़ा होती है कि बाजके द्वारा मारे जानेपर] मेरी हड्डियाँ और पाँख [स्वाती-नक्षत्रके मेघजलमें न पड़कर] पृथ्वीके साधारण जलमें पड़ेंगे।

बध्यो बधिक परथो पुन्यजल उलटि उठाई चोंच।
तुलसी चातक प्रेम पट मरतहुँ लगी न खोंच॥

किसी बहेलियेने चातकको मार दिया, वह पुण्यसलिला गङ्गाजीमें गिर पड़ा; (परंतु गिरते ही उस अनन्यप्रेमी) चातकने चोंचको उलटकर ऊपर उठा लिया। तुलसीदासजी कहते हैं कि चातक-प्रेमरूपी वस्त्रपर मरते दमतक कोई खोंच नहीं लगी (वह कहींसे फटा नहीं)।

अंड फोरि कियो चेटुवा तुष परथो नीर निहारि।
गहि चंगुल चातक चतुर डारथो बाहिर बारि॥

किसी चातकने अंडेको फोड़कर उसमेंसे बच्चा निकाला, परंतु अंडेके छिलकेको पानीमें पड़ा हुआ देखकर उस [प्रेमराज्यके] चतुर चातकने तुरंत उसे पंजेसे पकड़कर जलके बाहर फेंक दिया।

तुलसी चातक देत सिख सुतहि बारहीं बार।
तात न तर्पन कीजिऐ बिना बारिधर धार॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि चातक अपने पुत्रको बारंबार यही सीख देता है कि हे तात! [मेरे मरनेपर] प्यारे मेघकी धाराको छोड़कर अन्य किसी जलसे मेरा तर्पण न करना।

जिअत न नाई नारि चातक घन तजि दूसरहि।
सुरसरिहू को बारि मरत न माँगेउ अरध जल॥

जीते-जी तो चातकने [प्यारे] मेघको छोड़कर दूसरेके सामने गर्दन नहीं झुकायी (याचना नहीं की) और मरते समय भी गङ्गाजलमें अर्धजली तक न माँगी (मुक्तिका भी निरादर कर दिया)।

सुनु रे तुलसीदास प्यास पपीहहि प्रेम की।
परिहरि चारिउ मास जो अँचवै जल स्वाति को॥

रे तुलसीदास ! सुन, पपीहेको तो केवल प्रेमकी ही प्यास है [जलकी नहीं]; इसीलिये वह बरसातके चारों महीनोंके जलको छोड़कर केवल स्वाती-नक्षत्रका ही जल पीता है ।

जाचै बारह मास पिऐ पपीहा स्वाति जल।
जान्यो तुलसीदास जोगवत नेही मेह मन ॥

चातक बारहों महीने (मेघसे उसे देखते ही पिउ-पिउकी पुकार मचाकर) जल माँगा करता है, परंतु पीता है केवल स्वाती-नक्षत्रका ही जल । तुलसीदासजी कहते हैं कि मैंने इससे यह समझा है कि चातक ऐसा करके अपने स्नेही मेघका मन रखता है । (जिससे मेघको यह कहनेका मौका न मिले कि तू तो स्वार्थी है; जब प्यास लगती है तभी मुझे पुकारता है, फिर सालभर मेरा नाम भी नहीं लेता।)

तुलसी कें मत चातकहि केवल प्रेम पिआस।
पिअत स्वाति जल जान जग जाँचत बारह मास॥

तुलसीदासके मतसे तो चातकको केवल प्रेमकी ही प्यास है [जलकी नहीं]; क्योंकि सारा जगत् इस बातको जानता है कि चातक पीता तो है केवल स्वाती-नक्षत्रका जल, परंतु याचक बना रहता है बारहों महीने ।

आलबाल मुकुताहलनि हिय सनेह तरु मूल।
होइ हेतु चित चातकहि स्वाति सलिल अनुकूल॥

चातकके हृदयरूपी मोतियोंकी (बहुमूल्य) क्यारीमें प्रेमरूपी वृक्षकी जड़ लगी है । ईश्वर करे स्वाती-नक्षत्रका जल चातकके चित्तमें रहनेवाले प्रेमके लिये अनुकूल हो जाय । (अर्थात् स्वाती-नक्षत्रके जलसे हृदयमें लगी हुई प्रेम-वृक्षकी जड़ भलीभाँति सींची जाय, जिससे प्रेमवृक्ष फूल-फलकर लहलहा उठे !)

उष्न काल अरु देह खिन मग पंथी तन ऊख।
चातक बतियाँ ना रुचीं अन जल सींचे रूख॥

गर्मियोंके दिन थे; चातक शरीरसे खिन्न था (थका हुआ था), रास्ते चल रहा था; उसका शरीर बहुत गरम हो रहा था। [इतनेमें उसे कुछ पेड़ दीख पड़े, मनमें आया कि जरा विश्राम कर लूँ;] परंतु अनन्यप्रेमी चातकको मनकी यह बात अच्छी नहीं लगी, क्योंकि वे वृक्ष [स्वाति-नक्षत्रके जलसे सिंचे हुए न होकर] दूसरे ही जलसे सींचे हुए थे।

अन जल सींचे रूख की छाया तें बरु घाम।
तुलसी चातक बहुत हैं यह प्रबीन को काम॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि यों तो चातक (चातकप्रेमका दम भरनेवाले) बहुत हैं, परंतु 'स्वातीके जलके अतिरिक्त अन्य जलसे सींचे हुए वृक्षकी छायासे तो धूप ही अच्छी' ऐसा मानना तो किसी [प्रेम-प्रणको निबाहनेमें] चतुर चातक (सच्चे प्रेमी) का ही काम है।

एक अंग जो सनेहता निसि दिन चातक नेह।
तुलसी जासों हित लगै वहि अहार वहि देह॥

चातकका जो रात-दिनका (नित्य चौबीसों घंटेका) प्रेम है, वही एकाङ्गी प्रेम है। तुलसीदासजी कहते हैं—ऐसा एकाङ्गी प्रेम जिसके साथ लग जाता है, वही उसका आहार है (वह खाना-पीना सब भूलकर उसीकी स्मृतिमें जीता रहता है) और वही उसका शरीर है (वह अपने शरीरकी सुधि भुलाकर उसीके शरीरमें तन्मय हुआ रहता है)।

भोजन-साधन

१—शुद्ध कमाईका अन्न खाओ; जो पैसा चोरीसे, छलसे, बेईमानीसे, दूसरेके हकको मारकर आया हुआ हो, उससे मिला हुआ अन्न बहुत दूषित होता है और बुद्धिको सहज ही बिगाड़ देता है।

२—हर किसीके साथ न खाओ। बुरे परमाणु तुम्हारे अंदर आ जायँगे।

३—जूँठा कभी किसीका मत खाओ। रोग बढ़ेगा।

४—नियमित भोजन करो, भूखसे कुछ कम खाओ। अपनी प्रकृतिसे प्रतिकूल चीज मत खाओ।

५—स्वादकी दृष्टिसे मत खाओ—शरीर-रक्षाके लिये सात्त्विक आहार करो।

६—क्रोधी, कामी, वैरी, संक्रामक रोगोंसे आक्रान्त, गंदे आचरण-वाले, गंदगीसे सने हुए, हीन जाति और हीन कुलके लोगोंके साथ न खाओ।

७—ऐसी जगह मत खाओ, जहाँ कुदृष्टि पड़ती हो।

८—अतिथि, रोगी, गर्भिणी स्त्री, गुरु, ब्राह्मण, आश्रित-जन और गौ, कुत्ते, चींटी, कौए आदिको आदरसे खिलाकर पीछे खाओ।

९—रोज बलिवैश्वदेव करके खाओ।

१०—भगवान्‌को या अपने इष्टदेवको अर्पण करके खाओ। जो भगवान्‌को निवेदन न करके खाता है, वह गंदी चीज खाता है।

११—जूँठन मत छोड़ो। बिना भूख लगे मत खाओ, जितना आसानीसे पचा सको उतना ही खाओ।

१२—तुम्हारा खाना जिसको भार मालूम होता हो, उसके घर न खाओ। तुम्हारे खानेसे जिसके भोजनमें कमी आ जाती है, उसके यहाँ भी मत खाओ।

१३—भोजन करनेके पहले अन्नको प्रणाम करो, भोजनके समय ध्यान करो कि यह पवित्र भोजन मुझको पवित्र करेगा, बल देगा, ओज देगा और भगवान्‌की भक्ति देगा। और प्रत्येक ग्रास भगवान्‌का स्मरण करके मुँहमें लो।

१४—भोजनको अन्तर्यामी भगवान्‌की तृप्तिके लिये करो, यज्ञकी भावनासे करो—जीभके स्वाद या अपनी तृप्तिके लिये नहीं।

१५—बहुत मसाले, खट्टी, चटपटी, बहुत मिठाई आदि न खाओ ।

१६—सबको बाँटकर खाओ, चुराकर न खाओ ।

१७—पंक्तिमें भेद न करो, अपने लिये बढ़िया लेकर दूसरोंको घटिया चीज मत दो ।

१८—रोज स्नान, संध्या, तर्पण, श्राद्ध और बलिवैश्वादि करनेके बाद भोजन करो ।

१९—भोजनके समय मौन रहो ।

२०—ताँबेके बरतनमें दूध न पीओ, जूँठे बरतनमें घी लेकर न खाओ और दूधके साथ कभी नमक न खाओ ।

२१—भोजन खूब चबाकर करो, बहुत जल्दी-जल्दी न खाओ ।

२२—पूर्वकी ओर मुख करके भोजन करो, पश्चिम और दक्षिणकी ओर मुख करके भोजन करना भी बुरा नहीं है । जिसके माता-पिता जीवित हों, वह दक्षिणकी ओर मुख करके भोजन न करे । उत्तरकी ओर मुँह करके भोजन नहीं करना चाहिये ।

२३—दोनों हाथ, दोनों पैर और मुँहको पहले खूब धोकर भोजन करो । भोजनके बाद हाथ-मुँह धोना, कुल्ले करके मुँह साफ करना, दाँतोंमें लगे हुए अन्नको निकालकर फिर मुँह धोना चाहिये । भोजनके बाद मुँह साफ करनेके लिये पान खाना बुरा नहीं है ।

२४—एकादशी, अमावास्या, पूर्णिमा आदिके दिन उपवास करो ।

शरण-साधन

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥

'जो एक बार भी शरण होकर कह देता है कि मैं आपका हूँ, उसे मैं सब भूतोंसे अभय कर देता हूँ । यह मेरा व्रत है ।'

ये शब्द मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके हैं । श्रीरामचन्द्रजीकी प्रतिज्ञा प्रसिद्ध है 'राम एक वार जो कह देते हैं, बस वही करते हैं, दूसरी बार उसे बदलते नहीं—रामो द्विर्नाभिभाषते ।'

उपर्युक्त भगवद्वाक्यके अनुसार एक वार भी जो भगवान्‌की शरण हो जाता है, उसीको भगवान् अपना लेते हैं और अभय कर देते हैं ।

शरण होनेवाले साधकके लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह अन्य साधनोंके द्वारा पहले निष्पाप हो ले और फिर भगवान्‌की शरणमें जाय । न यही जरूरी है कि वह उत्तम वर्ण, उत्तम कुल, उत्तम गुण और उत्तम आचारोंसे सम्पन्न हो । कोई भी, कैसा भी क्यों न हो, भगवान् सभीको अपनी कल्याणमयी गोदमें आश्रय देनेको सदा तैयार हैं । बस, दो ही वात होनी चाहिये—एक तो भगवान्‌में और

उनकी शरणागत-वत्सलतामें पूरा विश्वास, और दूसरी अपनेको सब ओरसे असहाय—सारे सहारोंसे रहित दीन-हीन मानकर, किसी भी दूसरी ओर न ताककर निर्भरताके साथ उनके श्रीचरणोंमें डाल देनेकी सच्ची लालसा।

भगवान्‌की कृपा और शरणागत-वत्सलतापर विश्वास जबतक न होगा, तबतक एकमात्र उनके चरणोंका आश्रय पकड़नेमें हिचक रहेगी। जहाँ संदेह है, वहाँ निर्भरता नहीं हो सकती। इसलिये पहली बात है—विश्वास, और दूसरी बात है अन्य सारे अवलम्बनोंके प्रति अनास्था; फिर पाप तो भगवान्‌की शरणमें आते ही वैसे ही नष्ट हो जायँगे जैसे सूर्योदयकी सूचनासे ही अन्धकारका नाश हो जाता है। जैसे सूर्यके सामने कभी अन्धकार आ ही नहीं सकता, वैसे ही शरणागतके समीप पाप नहीं आ सकते। रही ताप या दुःखोंकी बात—सो जब परम आनन्दमय प्रभुकी शरण प्राप्त हो जाती है, तब वहाँ ताप रह ही कैसे सकते हैं? ताप तो विषयोंको आश्रय करके ही रहते हैं और विषयोंके आश्रयी नर-नारियोंको ही सदा जलाया करते हैं। जिन्होंने भगवान्‌का आश्रय ले लिया है, वे तो उस परम शान्ति और अचल शीतलताके साम्राज्यमें जा पहुँचते हैं, जहाँ दुःख-तापके लिये प्रवेशका अधिकार ही नहीं है।

नीच महापापी हो चाहे, चाहे हो अति हीन मलीन।
भीषण नरक-कुंडका कीड़ा पड़ा सड़ रहा हो अति दीन॥
जो शरण्य स्वामीको अपना एकमात्र रक्षक पहचान।
जा पड़ता सत्वर चरणोंमें सच्चे मनसे अपने जान॥

नहीं देखते जातिपाँतिको, नहीं देखते पापाचार ।
शील-मान-कुल नहीं देखते, नहीं देखते कुव्यवहार ॥
केवल मनके भाव और नीयतपर देते हैं प्रभु ध्यान ।
रख लेते तुरंत निज आश्रय उसको अपना निज-जन जान ॥
अपने हाथों बड़े स्नेहसे पाप-ताप-मल धोते आप ।
अपने हाथों गले लगाकर हर लेते सारा संताप ॥
मिल जाती फिर पूर्ण विमल मति पराशान्ति अति परमानन्द।
करुणावरुणालय नित निज-सेवामें रखते आनँदकन्द ॥

शरणागत भक्तके न शोक रह सकता है न विषाद, न दुःख न ताप, न चिन्ता न भय । उसे कुछ करना भी नहीं पड़ता । सब काम भगवत्कृपाकी शक्तिसे अपने-आप हो जाते हैं । शरणागतिमें कोई शर्त नहीं, कोई कैद नहीं । बस, एक ही शर्त है—एकमात्र भगवान्‌को ही परम आश्रय जानकर उनकी शरण हो जाना—पुकारकर कह देना—'नाथ ! मैं केवल तुम्हारा हूँ, तुम्हारे चरणोंपर आ पड़ा हूँ । दीन-हीन हूँ, पापी-अपराधी हूँ, साधनहीन मलिनमति हूँ, पर तुम्हारा हूँ; एकमात्र तुम्हारी ही कृपापर निर्भर हूँ' फिर तो भगवान् उसे निहाल कर देते हैं—अपनी सेवामें नियुक्त कर लेते हैं । भगवत्कृपासे वह उस आनन्दको अनायास ही पा जाता है जो अनिर्वचनीय है । भगवान् स्वयं घोषणा करके कहते हैं—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

'सब धर्मोंको छोड़कर तुम एकमात्र मेरी शरणमें आ जाओ । मैं तुम्हें सब पापोंसे छुड़ा दूँगा । तुम चिन्ता न करो ।'

अहिंसा परम धर्म और मांस-भक्षण महापाप

अहिंसा परमो धर्मस्तथाहिंसा परं तपः ।
अहिंसा परमं सत्यं यतो धर्मः प्रवर्तते ॥
न हि मांसं तृणात् काष्ठादुपलाद्वापि जायते ।
हत्वा जन्तुं ततो मांसं तस्माद्दोषस्तु भक्षणे ॥
(महा० अनु० ११६ । २४–२५)

'अहिंसा परम धर्म है, अहिंसा परम तप है, अहिंसा परम सत्य है, अहिंसासे ही धर्मकी उत्पत्ति होती है । मांस घास, लकड़ी या पत्थरसे नहीं पैदा होता, वह तो जीवोंकी हत्या करनेपर ही मिलता है । इसलिये उसके खानेमें बहुत बड़ा दोष है ।'

उपर्युक्त महाभारतके वचनोंके अनुसार ही प्रायः सभी पुराणों और स्मृतियोंमें अहिंसाकी महिमा और हिंसापूर्ण मांस-भक्षणका निषेध मिलता है, परंतु मनुष्य इतना स्वार्थी और जिह्वालोलुप है कि वह अपने पापी पेटको भरने और घृणित मांसका स्वाद लेने तथा शिकारका शौक पूरा करनेके लिये निर्दोष प्राणियोंकी हत्या करता है । शास्त्रोंमें कहा है—

'जो मूर्ख मोहवश मांस भक्षण करता है, वह अत्यन्त नीच है।' जैसे माँ-बापके संयोगसे पुत्रकी उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार पशु-हिंसासे अनेकों पापयोनियोंमें जन्म लेना पड़ता है। मांस खानेवाला निर्दय हो जाता है। उस हिंसा-वृत्तिवालेपर किसी जीवका विश्वास नहीं रहता। सबको क्लेश पहुँचानेवाला होनेसे उसे भी जीवनभर क्लेश रहता है और मृत्युके पश्चात् दूसरे जन्ममें वे सभी प्राणी उसे क्लेश पहुँचाते हैं। मांस-भक्षण बहुत बड़ा पाप और अत्यन्त हानिकर कुकर्म है। मांस खानेवाले लोग संसारमें हैं, इसीलिये प्राणियोंकी हत्या होती है। कसाई मांसखोरोंके लिये ही तो पशुओंको मारता है। अतएव सबसे बड़ा दोषी मांस खानेवाला ही है। जो दूसरोंका मांस खाकर अपना मांस बढ़ाना चाहता है, वह किसी भी जन्ममें चैनसे नहीं रहने पाता। जो मनुष्य वध करनेके लिये पशुको लाता है, जो उसे मारनेकी अनुमति देता है, जो उसका वध करता है तथा जो खरीदता, बेचता, पकाता और खाता है, ये सब-के-सब पशुके हत्यारे और मांसखोर ही समझे जाते हैं। मांस-भक्षण बहुत बड़ा अपराध है; क्योंकि इसीके कारण जीवोंको निर्दय कसाइयोंके हाथों मृत्युकी भीषण यन्त्रणा भोगनी पड़ती है। सभी प्राणी जीवित रहना चाहते हैं। मृत्यु सभीके लिये दुःखदायी होती है। यदि हमें कोई मारना चाहे और मारे तो जितना दुःख होता है, उतना ही दूसरे प्राणीको भी होता है। इसीलिये प्राणदानसे बढ़कर कोई भी दान नहीं है। जिसका वध किया जाता है, वह प्राणी कहता है कि 'मां स भक्षयते यस्माद् भक्षयिष्ये तमप्यहम्।' अर्थात् 'आज मुझे वह खाता

है तो कभी मैं भी उसे खाऊँगा।' यही मांसका मांसत्व है। जो मनुष्य मांस, शिकार अथवा यज्ञयाग—किसी हेतुसे भी प्राणियोंकी हिंसा करता है, वह नीच पुरुष नरकगामी होता है और जन्म-जन्ममें दुःख भोगता है।'

शास्त्र कहते हैं—'जो मनुष्य मांस न खाकर जीवोंपर दया करता है, वह दीर्घजीवी और नीरोग होता है। मांस-भक्षण न करनेसे सुवर्ण-दान, गो-दान और भूमिदानसे भी अधिक धर्मकी प्राप्ति होती है। जीवोंपर दया करनेके समान इस लोक और परलोकमें कोई भी पुण्यकार्य नहीं है। जो मनुष्य दयापरायण होकर सब प्राणियोंको अभय प्रदान करता है, उसे वे सब प्राणी भी अभय-दान करते हैं। जो मनुष्य सब जीवोंको आत्मभावसे देखकर किसी भी जीवका मांस जीवनभर नहीं खाता, वह बड़ी उत्तम गतिको प्राप्त होता है। समस्त धर्मोंका शिरोमणि अहिंसा धर्म है।'

अहिंसा परमो धर्मस्तथाहिंसा परो दमः।
अहिंसा परमं दानमहिंसा परमं तपः॥
अहिंसा परमो यज्ञस्तथाहिंसा परं फलम्।
अहिंसा परमं मित्रमहिंसा परमं सुखम्॥
सर्वयज्ञेषु वा दानं सर्वतीर्थेषु वा प्लुतम्।
सर्वदानफलं वापि नैतत्तुल्यमहिंसया॥
अहिंस्रस्य तपोऽक्षय्यमहिंस्रो यजते सदा।
अहिंस्रः सर्वभूतानां यथा माता यथा पिता॥

(महा० अनु० ११६। ३८-४१)

'अहिंसा परम धर्म, अहिंसा परम संयम, अहिंसा परम दान, अहिंसा परम तप, अहिंसा परम यज्ञ, अहिंसा परम फल, अहिंसा परम मित्र और अहिंसा परम सुख है। सब यज्ञोंमें दान किया जाय, सब तीर्थोंमें अवगाहन किया जाय, सब प्रकारके दानोंका फल प्राप्त हो, तो भी उसकी अहिंसाके साथ तुलना नहीं हो सकती। हिंसा न करनेवालेकी तपस्या अक्षय होती है और वह मानो सदा-सर्वदा यज्ञ ही करता है। हिंसा न करनेवाला पुरुष समस्त प्राणियोंका माता-पिता ही है।'

भारतके सभी धर्मग्रन्थोंमें मांसकी निन्दा की गयी है, फिर भी ऐसे उदाहरण मिलते हैं—जिनसे भारतीयोंका प्राचीन कालमें मांस खाना सिद्ध किया जाता है। सम्भव है, कुछ लोग मांस खाते हों; और यह भी सम्भव है कि पीछेसे मांसाहारियोंने ग्रन्थोंमें ऐसी बातें घुसेड़ दी हों। जो कुछ भी हो, मांस-भक्षण प्रत्यक्ष पाप और अत्यन्त घृणित दुष्कर्म है। ऐसा माना जाता है कि इधर भारतीयोंमें मांस-भक्षणकी प्रथा विदेशियोंके, खास करके अंग्रेजोंके आनेके बाद ही विशेषरूपसे चली है, पहले इतनी नहीं थी। हमारी सबसे प्रार्थना है कि हम मांस-भक्षणके दोषोंको समझ लें। इसमें आध्यात्मिक, शारीरिक और आर्थिक सभी प्रकारसे हानि है। इसपर विचार करें और जहाँतक बने मांस-भक्षणका प्रचार रोकनेकी सब प्रकारसे चेष्टा करें।

सरल नाम-साधन

सकृदपि परिगीतं श्रद्धया हेलया वा
भृगुवर नरमात्रं तारयेत् कृष्णनाम।

प्रश्न—वर्षोंसे चेष्टामें लगा हूँ, बहुतेरे साधु-महात्माओंके दर्शन किये, तीर्थोंमें घूमा, मन्त्रोंके अनुष्ठान किये और नाना प्रकारकी साधनाएँ कीं, पर मेरा यह दुष्ट मन किसी प्रकार भी वशमें नहीं होता। शास्त्र और संत कहते हैं कि मनके वशमें हुए बिना भगवान्‌की प्राप्ति नहीं होती और यह बात तो निर्विवाद ही है कि भगवान्‌की प्राप्ति हुए बिना जीवन व्यर्थ है। मैं हताश हो गया, मेरा मन वशमें नहीं होता। क्या मेरे लिये कोई उपाय नहीं है? क्या मैं चाहता हुआ भी भगवान्‌को नहीं पा सकूँगा? भगवान् क्या दया करके मुझ-सरीखे चंचल-चित्तको न अपना लेंगे?

उत्तर—बात यह है, सच्ची लगन हो और दृढ़तापूर्वक अभ्यास किया जाय तो मनका वशमें होना असम्भव नहीं है। मन वशमें करनेके बहुत-से उपाय हैं और उनके द्वारा मन अवश्य ही वशमें हो भी सकता है; परंतु भैया! है यह कलियुग, जीवनमें कहीं शान्ति नहीं है। नाना प्रकारकी आधि-व्याधियोंसे मनुष्यका मन सदा घिरा रहता है। इसलिये मन वशमें करनेके साधनमें लगना है बड़ा कठिन, और साधनमें लगनेपर भी नाना प्रकारके विघ्नोंके कारण लगन—सच्ची लगन और दृढ़ अभ्यासका होना भी कठिन ही है।

प्रश्न–तो क्या फिर मनुष्य-जीवनकी सफलताका कोई उपाय नहीं है ?

उत्तर–है क्यों नहीं ? वही तो बतला रहा हूँ । वह ऐसा सुन्दर उपाय है जिसे ब्राह्मणसे चाण्डालतक, परम विद्वान्‌से वज्रमूर्खतक, स्त्री और पुरुष, सदाचारी और कदाचारी सभी सहज ही कर सकते हैं । वह उपाय है—वाणीके द्वारा भगवान्‌के नामका रटना । कोई किसी भी अवस्थामें हो, नाम-जप अपने स्वाभाविक गुणसे जपनेवाले-का मनोरथ पूर्ण कर सकता है और उसे अन्तमें भगवान्‌की प्राप्ति करा देता है । और-और साधनोंमें मनके वशमें होने तथा भाव शुद्ध होनेकी आवश्यकता है । भाव (नीयत) के अनुसार ही साधन-का फल हुआ करता है । परंतु नाममें यह बात नहीं है । किसी भी भावसे नाम लिया जाय वह तो कल्याणकारी ही है ।

भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ । नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ ॥

इसलिये मन वशमें हो चाहे न हो । कैसा भी भाव हो, तुम विश्वास करके, जैसे बने वैसे ही—भगवान्‌का नाम लिये जाओ और निश्चय करो कि भगवान्‌के नामसे तुम्हारा अन्तःकरण निर्मल हुआ जा रहा है और तुम भगवान्‌की ओर बढ़ रहे हो । नाम लेते रहे, ताँता न टूटा तो निश्चय ही इसीसे तुम अन्तमें भगवान्‌को पाकर कृतार्थ हो जाओगे ।

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास ।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास ॥

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम् ।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥

श्रीहरिः

सचित्र, संक्षिप्त भक्त-चरित-मालाकी पुस्तकें

सम्पादक—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

भक्त बालक—पाँच बालक भक्तोंकी कथाएँ, पृष्ठ ७२, सचित्र, मूल्य ... ।-)
भक्त नारी—पाँच स्त्री भक्तोंकी कथाएँ, पृष्ठ ६८, चित्र ६, मूल्य ... ।-)
भक्त-पञ्चरत्न—पाँच भक्तोंकी कथाएँ, पृष्ठ ८८, चित्र २, मूल्य ... ।-)
आदर्श भक्त—सात भक्तोंकी कथाएँ, पृष्ठ ९६, चित्र १२, मूल्य ... ।-)
भक्त-चन्द्रिका—छः भक्तोंकी कथाएँ, पृष्ठ ८८, सचित्र, मूल्य ... ।-)
भक्त-सप्तरत्न—सात भक्तोंकी कथाएँ, पृष्ठ ८६, सचित्र, मूल्य ... ।-)
भक्त-कुसुम—छः भक्तोंकी कथाएँ, पृष्ठ ८४, सचित्र, मूल्य ... ।-)
प्रेमी भक्त—पाँच भक्तोंकी कथाएँ, पृष्ठ ८८, सचित्र, मूल्य ... ।-)
प्राचीन भक्त—पंद्रह भक्तोंकी कथाएँ, पृष्ठ १५२, चित्र ४, मूल्य ... ॥)
भक्त-सौरभ—पाँच भक्तोंकी कथाएँ, पृष्ठ ११०, सचित्र, मूल्य ... ।-)
भक्त-सरोज—दस भक्तोंकी कथाएँ, पृष्ठ १०४, सचित्र, मूल्य ... ।=)
भक्त-सुमन—दस भक्तोंकी कथाएँ, पृष्ठ ११२, चित्र ४, मूल्य ... ।=)
भक्त-सुधाकर—बारह भक्तोंकी कथाएँ, पृष्ठ १००, चित्र १२, मूल्य ... ॥)
भक्त-महिलारत्न—नौ भक्त महिलाओंकी कथाएँ, पृष्ठ १००, चित्र ७, मू० ।≡)
भक्त-दिवाकर—आठ भक्तोंकी कथाएँ, पृष्ठ १००, चित्र ८, मूल्य ... ।≡)
भक्त-रत्नाकर—चौदह भक्तोंकी कथाएँ, पृष्ठ १००, चित्र ८, मूल्य ... ।≡)

ये बूढ़े-बालक, स्त्री-पुरुष सबके पढ़नेयोग्य, बड़ी सुन्दर और शिक्षाप्रद पुस्तकें हैं। एक-एक प्रति अवश्य पास रखने योग्य है।

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

अन्य पुस्तकोंका सूचीपत्र अलग मुफ्त मँगाइये।

विलास-सामग्री, मान-सम्मान और पूजा-प्रतिष्ठाका त्याग करनेपर भी इनके त्यागसे होनेवाली कीर्तिकी कामना तो किसी-न-किसी अंशमें साधकके मनमें प्रायः रह ही जाती है। इसलिये सच्चे संत लोग त्यागका भी त्याग कर देना चाहते हैं, उनके लिये त्यागकी स्मृति भी रसहीन हो जाती है।

—इसी पुस्तकसे